ओ३म्

सत्योपदेश

(द्वितीय-भाग)

स्वामीसत्यपति जी परिव्राजक द्वारा रुग्णावस्था के समय ब्रह्मचारियों को दिए गए उपदेशों का संग्रह

सम्पादक

सुमेरु प्रसाद दर्शनाचार्य

संकलयिता

स्वामी वेदपति

प्रकाशक

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, पत्रा. सागपुर, जि. साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७

दूरभाष : (०२७७४) २७७२१७, (०२७७०) २५७२२४, २८७४१७

वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) २५७२२०

E-mail : darshanyog@icenet.net

Website : www.darshanyog.org

११११२२१

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१. ईश्वर–प्राप्ति	१	७. सिद्धान्त	५०
२. उपासना	९	८. वैराग्य	६३
३. ईश्वर–प्रणिधान	२१	९. कर्म	६९
४. पठन–पाठन	२८	१०. संकलयिता की कुछ विशेष प्रस्तुति	७३
५. शिष्टाचार	३०		
६. व्यवहार	३३		

प्रकाशनतिथि :– कार्तिक २०६४ विक्रमी, नवम्बर २००७

संस्करण :– प्रथम सृष्टिसंवत् १९६०८५३१०८

मुख्य वितरक

रणसिंह आर्य

द्वारा – डो. सद्‌गुणा आर्या

'सम्यक्'

पो. गांधीग्राम, जूनागढ़ (गुजरात)–३६२००९

प्राप्तिस्थान

१. आर्यसमाज मंदिर,
महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद.

२. ऋषि उद्यान, आनासागर, पुष्कर रोड, अजमेर (राज०)

३. आर्य समाज, थर्मल कोलोनी, पानीपत, हरियाणा.

४. गुजरात की सभी प्रमुख आर्य समाजों में भी उपलब्ध.

लागत व्यय : ८/– रुपये

टाईप सेटिंग : राज ग्राफिक्स, २०२, मादलपुर गाम, अहमदाबाद–६. फोन : २६५७५०२९

प्रकाशकीय

अनन्त गुण–कर्म–स्वभाव–विभूषित सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर के प्रति अगाध प्रेम, श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास रखने वाले, वैदिक धर्म के रक्षक, महान् दार्शनिक, त्यागी, तपस्वी, वीतराग, सत्याग्रही, ऋषि दयानन्द के प्रबल समर्थक तथा आज्ञाकारी पूज्य स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक के श्री वचनों का द्वितीय भाग प्रस्तुत करते हुए हमें अति हर्ष हो रहा है। किसी मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान कैसा और कितना है तथा उसकी समाज, राष्ट्र, तथा मानवता के लिए क्या आन्तरिक भावनाएँ हैं यह उसके विचारों से ही प्रकट होता है। किसी व्यक्ति ने अपने जीवन को निम्नस्तर से उच्च स्तर तक बनाने के लिए कितना संघर्ष किया है यह उसके जीवनवृत्त तथा व्यवहार से प्रतीत होता है।

यद्यपि ईश्वर अपनी सर्वव्यापकता से सभी मनुष्यों के हृदय में सदा ही उपस्थित है। आस्तिक, धार्मिक व्यक्ति प्रतिदिन उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते हैं किन्तु मानसिक शान्ति, ज्ञान, बल, आनन्द, संतोष, प्रसन्नता, निर्भीकता तो किसी विरले व्यक्ति को ही प्राप्त होती है। जिस व्यक्ति के पूर्वजन्मार्जित विवेक–वैराग्य–अभ्यास के प्रबल संस्कार होते हैं और जो इस वर्त्तमान जीवन में कठोर पुरुषार्थ, घोर तपस्या करता है उसी व्यक्ति का जीवन ईश्वर की अलौकिक दिव्यानुभूति करके कृतकृत्य होता है। इसका एक जीता-जागता उदाहरण स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक हैं।

पूज्य स्वामीजी महाराज पिछले डेढ़–दो वर्ष से गंभीर रूप से अस्वस्थ चल रहे हैं। उनकी चिकित्सा–सेवा–सुश्रूषा वानप्रस्थ साधक आश्रम आर्यवन रोजड़ में ही चल रही है।

आप अपनी रुग्णावस्था में भी समय-समय पर ब्रह्मचारियों को उपदेश करते रहे हैं जिनको मुख्य रूप से ब्र. विद्यासागर जी आर्य ने लिपिबद्ध किया और आचार्य सुमेरुप्रसाद जी दर्शनाचार्य ने उसे परिष्कृत करके क्रमबद्धरूप में व्यवस्थित किया है। इन वाक्यों से प्राप्त होने वाला उपदेश हताश, निराश, दुःखी पतित और निम्नस्तरीय जीवनों में नई आशा, उत्साह, उमंग, प्रेरणा, आत्मविश्वास, पराक्रम और सुख-शान्ति प्रदान करने में समर्थ है।

वैराग्य के पश्चात् जीवन के ६० वर्षों तक आपने जितने वैदिक वाङ्मय का अध्ययन, चिन्तन किया तथा उनका क्रियान्वयन करने के उपरान्त जो परिणाम निकाले हैं उन्हें साररूप में इन उपदेशों के माध्यम से हमें प्रदान किये हैं।

ये वाक्य नहीं अपितु वे अमूल्य हीरे-मोती हैं जो व्यक्ति के अन्तःकरण को अलंकृत कर सुशोभित करते हैं और जिनसे यही जीवन नहीं अपितु आगामी जीवन भी उत्कृष्ट बनता है। निश्चित ही पाठकों को किसी भी पृष्ठ के किसी भी वाक्य को पढ़ने से उत्तम प्रेरणा मिलेगी और उनका जीवन उत्कृष्ट बनेगा। इसी आशा के साथ.....

दिनाङ्क : ९-११-२००७ — *ज्ञानेश्वरार्यः*

ऋषि निर्वाण दिवस, दीपावली — *वानप्रस्थ साधक आश्रम*

★ ★ ★

ईश्वर-प्राप्ति

१. क्या आप स्वयं ईश्वर-प्राप्ति करने और सारे संसार को भी ईश्वर-प्राप्ति करवाने की योजना रखते हैं ? यदि नहीं तो आप क्या कर रहे हैं ? जब ऐसी योजना ही नहीं है तो वैसी प्रवृत्ति भी नहीं होगी । यदि ईश्वर-प्राप्ति लक्ष्य नहीं होगा तो भोग-प्रवृत्ति लक्ष्य होगा, क्योंकि जीवन की दो ही धाराएँ होती हैं – एक-आध्यात्मिक (ईश्वर-प्राप्ति) और दूसरी लौकिक (भोग-प्राप्ति)। उपनिषद् में कहा –

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

कठोपनिषद् २/२ ।

भावार्थ – श्रेय और प्रेय ये दो मार्ग हैं, जिसमें श्रेय मार्ग उत्तम है और प्रेय मार्ग अधम है । व्यक्ति के सामने जब दोनों मार्ग आते हैं तब जो मन्दबुद्धि है, बेसमझ है, अविद्या से परिपूर्ण है, वह प्रेय = भोगमार्ग को अपनाता है और जो बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता है, वह श्रेयमार्ग को अपनाता है ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महति विनष्टिः ॥

भावार्थ – यदि इसी जन्म में ईश्वर-प्राप्ति कर ली तो सत्य है = सफलता है, अन्यथा महाविनाश है । अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है, इसलिए जो संसार को साधन मानकर चलता है, वह बुद्धिमान् है और जो संसार को साध्य (लक्ष्य) मानकर चलता है, वह मूर्ख है ।

२. व्यक्ति को यह निर्णय कर लेना चाहिए कि मेरा लक्ष्य "ईश्वर-प्राप्ति करना और करवाना है", उसी के अनुरूप कार्यों को करेंगे और करवायेंगे । शुभ कर्म भी इसलिए करेंगे कि मुझे ईश्वर मिलेगा ।

३. ईश्वर-प्राप्ति=वैदिक ईश्वर को जानना और जनाना सबसे बड़ा कार्य है, सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, इसलिए इसको सर्वप्रमुख कार्य मानकर करना चाहिए ।

४. एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः ..... इस मन्त्र में बताया गया है कि यह सारा संसार ईश्वर की महिमा है और ईश्वर इससे भी बड़ा है । ईश्वर के एक पाद में यह सारी सृष्टि है और शेष तीन पाद केवल आनन्द से युक्त हैं ।

५. यदि ईश्वर-प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है तो व्यक्ति एक क्षण भी ईश्वर को भूलकर नहीं रह सकता। क्योंकि ईश्वर से सम्बद्ध रहने पर ज्ञान, विवेक, सुख मिलते है और सम्बन्ध नहीं रहने या टूट जाने पर रजस् तमस् का प्रभाव पड़ता है । उनसे लौकिक वृत्ति, लौकिक ज्ञान से व्यक्ति घिर जाता है और अधर्म, अन्याय आदि पाप कर्म में प्रवृत्त होकर दुःख रूपी घोर अन्धकार में डूब जाता है। यह एक सूक्ष्म विज्ञान है जिसे सामान्य व्यक्ति प्रायः समझ नहीं पाता।

६. इस ईश्वर-प्राप्ति लक्ष्य को दृढ़ बनाने के लिए हर समय इसको ध्यान में रखना पड़ता है । अत्यन्त पुरुषार्थ करना पड़ता है । लगातार इसलिए सभी कार्य ईश्वर-प्राप्ति हेतु ही होने चाहिएँ। इतना होते हुए भी, जीवन क्या है, इत्यादि सूक्ष्म विषयों के विषय में भी सोचते-विचारते रहना चाहिए।

७. ईश्वर जब स्वयं वेदों में कह रहा है कि मेरे जाने बिना व्यक्ति समस्त क्लेशों से नहीं छूट सकता, इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः सत्यग्राही व्यक्ति ईश्वर और वेद की बात को मान लेता है और इनके विरुद्ध अपनी बात को ठुकरा देता है, तब उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है । इसके विपरीत असत्यग्राही व्यक्ति अपनी बात को मान लेता है और उसके विरुद्ध ईश्वर और वेद की बात को ठुकरा देता है, उससे उसे ईश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

८. केवल ईश्वर ही के आलम्बन से सारे दुःखों की निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं ।

९. एक व्यक्ति तो प्रातः काल उठते ही सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कर ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ लेता है, दूसरा ईश्वर से सम्बन्ध तोड़कर

सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ लेता है। इनमें प्रथम कल्याणकारी है और दूसरा हानिकारक है।

१०. ईश्वर के गुणों को जानने से उसके प्रति प्रेम, आकर्षण बढ़ता है। जब यह पता चलता है कि ईश्वर हमारा सबसे बड़ा हितैषी है, सबसे अधिक कल्याणकारी है तब ईश्वर के प्रति श्रद्धा, प्रेम, आकर्षण बढ़ते हैं।

११. यदि व्यक्ति मन आदि इन्द्रियों पर असंयम रखकर किसी विषय को सुख दृष्टि से भोग रहा हो तो वह ईश्वर से नहीं जुड़ सकता।

१२. जब तक व्यक्ति जितेन्द्रिय, विद्वान्, धर्मात्मा नहीं होता तब तक ईश्वर को नहीं जान सकता।

१३. दूसरे के लिए जो कोई भी उपकार जीव करता है वह ईश्वर की सहायता से करता है, उसके बिना किंचित् मात्र भी नहीं कर सकता। जब व्यक्ति इस प्रकार के सिद्धान्तों को अच्छी प्रकार से जानकर मन में बिठा लेता है तब वह वास्तव में मनुष्य बनता है और उसकी ईश्वर में श्रद्धा, रुचि होती है। इसलिए सारा धन्यवाद, कृतज्ञता, श्रेय ईश्वर को ही जाता है। परन्तु इसके साथ-साथ जीवात्मा इन साधनों के होते हुए कर्म करने में स्वतंत्र है। जब व्यक्ति ऐसा ज्ञान व्यवहार में लाता है तो सभी कार्य करते हुए ईश्वर की अनुभूति करता है।

१४. महान् महिमा वाले ईश्वर को जानकर महान् धैर्य प्राप्त होता है। जब व्यक्ति यह देखता है कि मैं स्वयं कुछ नहीं कर सकता और प्रकृति जड़ होने से कुछ नहीं कर सकती, अतः एक ईश्वर ही ऐसा बचता है जिसमें इतने शक्ति-सामर्थ्य हैं। वही प्रकृति के परमाणुओं से सृष्टि को बनाता है, पालन करता है और विनाश भी करता है। उसी ईश्वर के दिए सामर्थ्य ज्ञान, बल, साधनों से हम कुछ निर्माण, पालन, विनाश करने में समर्थ हो पाते हैं।

१५. हम जो भी ज्ञान, बल आदि प्राप्त करते हैं वे सब नैमित्तिक हैं। परन्तु यदि हमारे स्वाभाविक गुण न होते तो कोई ज्ञान आदि नहीं हो सकता था। अन्यथा तो जड़ पदार्थ को भी ज्ञान होना चाहिए था।

ऐसे ही सभी पदार्थों में जानना चाहिए कि कार्य है तो कारण भी होगा। परन्तु जब तक व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में यह नहीं रहता कि सब कुछ ईश्वर का ही है। मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह ईश्वर प्रदत्त सामर्थ्य से कर रहा हूँ। तब तक व्यक्ति स्वस्वामि-सम्बन्ध, मिथ्या अभिमान आदि दोषों से बच नहीं सकता है।

१६. ईश्वर कभी दुःखी नहीं होता क्योंकि उसमें यथार्थ ज्ञान का अतिशय है, वह सर्वज्ञ है। इसलिए जिसे यथार्थ ज्ञान होता है वह संसार में अधिक सुखी देखा जाता है।

१७. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

उस सर्वव्यापक ईश्वर के कर्मों (जगत् की उत्पति, स्थिति, प्रलय आदि) को देखो। जिसकी सहायता से, दिए गए सामर्थ्य से ही हम लोग ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत और ईश्वर के नियमों का अनुष्ठान करने में समर्थ हुए हैं। वही ईश्वर निश्चय से जीवात्मा का एक योग्य मित्र है, अन्य कोई नहीं है, क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है, उससे बड़ा हितकारी और कोई नहीं हो सकता। जब व्यक्ति इस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य में ईश्वर की ही सहायता देखता है तो उसकी ईश्वर में श्रद्धा, रुचि, प्रेम बढ़ते हैं। वह ईश्वर के तुल्य वा अधिक किसी भी पदार्थ को नहीं मानता।

१८. जब व्यक्ति ईश्वर को ही प्रलय करने वाला देखता है तो उसे यह पता चलता है कि ईश्वर कितना बलवान् है ?

१९. जब व्यक्ति ईश्वर को ही सब पदार्थों का स्वामी मानता है तो वह सब पदार्थों का प्रयोग ईश्वर की आज्ञा से ही करता है।

२०. व्यक्ति जब सब कुछ ईश्वर का मानता है तब सब का उपकार करता है, यदि अपना मानता है तो केवल अपना ही उपकार करता है।

२१. ईश्वर सभी अच्छे-बुरे कर्मों जो मन-वचन-कर्म से किये जाते हैं, का फल न्याययुक्त देगा ही, ऐसा अनुभव में आने पर व्यक्ति मन से भी बुरा कर्म करने की इच्छा नहीं करता और धर्म को भी कभी नहीं छोड़ता।

२२. इन पक्षियों को देखो ! कैसे भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें निकाल रहे हैं । पता नहीं प्रसन्न हैं या दुःखी हैं, किसी को बुला रहे हैं या भयभीत हो रहे हैं अथवा प्रतियोगिता कर रहे हैं ? ये नहीं जानते हैं कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है, हमें यह जीवन क्यों मिला है, किसने यह शरीर दिया है ? परन्तु ये सभी ईश्वर को सिद्ध करते हैं कि वह कोई चेतन सत्ता है ।

२३. ईश्वर जो कुछ करता है वह सब जीवों के लिए ही करता है, अपने लिए तिलमात्र भी नहीं करता । क्या ऐसा कोई हितकारी, परोपकारी, व्यक्ति मिलेगा ?

२४. ईश्वर की व्यवस्था को देखो ! जैसे कि एक दाना भूमि में बोते हैं तो सैकड़ों दाने फल के रूप में ईश्वर देता है, यह ईश्वर का न्यायफल है । ऐसे ही जो अच्छे-बुरे कार्य करते हैं उनका भी कई गुणा फल सुख-दुःख के रूप में मिलेगा । जैसे किसी ने किसी के साथ एक बार द्वेष कर लिया तो उसी समय ईश्वर की ओर से भय, शंका रूपी दुःख मिल जाएगा । फिर उसका संस्कार बन जाएगा, उस संस्कार के कारण पुनः उसी व्यक्ति के सामने आने पर फिर द्वेष का संस्कार उद्बुद्ध होकर दुःख देगा । आगे भी तब तक ऐसा चलता रहेगा जब तक असम्प्रज्ञात समाधि से इन संस्कारों को नष्ट न कर दिया जाएगा । अन्यथा फिर उसी बुरे कार्य अर्थात् द्वेष रूपी संस्कार के कारण अगले जन्मों में विभिन्न योनियों में दुःख भोगना पड़ेगा । ऐसे ही सभी क्लेशों के विषय में समझना चाहिए ।

२५. भिन्न-भिन्न योनियों में ये जो भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर हैं, इनको न तो सभी वैज्ञानिक, न कोई जीवात्मा, न प्रकृति स्वयं बना सकती है । अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता । फिर भी यह कार्य दिख रहा है, इसका अभिप्राय निकलता है कि कोई न कोई ऐसा है जो इन पदार्थों को नियम में चला रहा है । वह भले ही हमें नहीं दिखता है परन्तु यह निश्चित है कि कोई न कोई है । उसे चाहे ईश्वर या किसी भी नाम से कह लो । जब व्यक्ति इस प्रकार, विचार-मंथन करके अन्तिम निर्णय तक पहुँचता

है तो उसे यह निश्चय होता है कि यह सारा सृष्टिक्रम नियमन करने वाला ईश्वर ही है, अन्य कोई हो ही नहीं सकता ।

२६. जैसे आकाश में सूक्ष्म वायु रहती है और धीरे-धीरे गति करती है अथवा अन्य कोई क्रिया होती है तो उससे हमें कोई बाधा नहीं होती है सब कार्य यथावत् चलते हैं । ऐसे ही जीव व प्रकृति से भी सूक्ष्म ईश्वर इन सबके अन्दर-बाहर व्यापक है और अपनी अनन्त शक्ति से सभी का नियमन करता रहता है । बिना हिले-डुले, प्रकृति के परमाणुओं को अपनी शक्ति से गति देता, संसार का निर्माण, पालन और प्रलय करता है । इसी ईश्वर में यह सम्पूर्ण कार्य जगत् रहता और प्रलय के पश्चात् भी इसी में सूक्ष्म रूप में रहता है । ऐसे ही सभी जीवों में व्याप्त हो सहज स्वभाव से सबको देख-सुन-जान रहा है । जब व्यक्ति ऐसे ईश्वर को जानकर सर्वसमर्पण करता है, उसे प्राण देने वाला, प्राण-प्रिय, सभी का पिता मानता है तो किसी के प्रति कोई दुर्विचार उत्पन्न नहीं करता, अधर्म नहीं करता है ।

२७. जैसे ईश्वर के सभी गुण एक स्थान पर होते हैं वैसे ही सभी स्थानों पर होते हैं, वैसे ही एकदेशी जीवात्मा के सभी स्वाभाविक गुण एक जगह होते हैं ।

२८. जीवात्मा के ज्ञान, बल, इच्छा, प्रयत्न आदि स्वाभाविक गुण हैं । परन्तु बिना ईश्वर की सहायता और प्रदत्त साधनों के ये गुण निष्क्रिय रहते हैं ।

२९. प्रत्येक जीव की यह इच्छा रहती है कि मैं सुखी रहूँ, हमेशा मनुष्य जीवन प्राप्त करूँ, यह सब सोचना भी ईश्वर-प्रदत्त साधनों से होता है ।

३०. सभी जीवात्माएँ मिलकर केवल अपने-अपने ज्ञान व अपने सामर्थ्य से तिल का एक दाना भी नहीं बना सकते, न किसी का पालन कर सकते और न ही किसी का विनाश कर सकते हैं । जीव का तो इतना भी अपना ज्ञान नहीं है जिससे अपना अस्तित्व जान सके और न उतना

बल है जिससे करवट बदल सके। वह ईश्वर-प्रदत्त शरीर आदि साधनों, अन्तःकरणों से सभी कार्य करता है। प्रकृति जड़ होने से स्वयं कुछ कर नहीं सकती। फिर यह जो इतनी विस्तृत सृष्टि जो कि बुद्धिपूर्वक बनी हुई है, यह बिना कर्त्ता के अपने आप कैसे बन सकती है ? अतः इसको बनाने वाला कोई न कोई सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी कर्त्ता अवश्य मानना ही होगा। इसमें यदि सन्देह होता है तो अपने को मूर्ख मानकर अपनी बात को ठुकरा देना चाहिए।

३१. ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों में जो व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है उससे तीनों एक स्थान पर रह सकते हैं, घुलते-मिलते नहीं हैं। ईश्वर इन दोनों के अन्दर-बाहर है। कोई भी स्थान उससे खाली नहीं है। ऐसा ईश्वर सृष्टि का निर्माण करता है, जीवों को प्रकृति का सुख-दुःख भी भुगाता है और अपना मोक्ष का आनन्द भी वही देता है। कैसा विचित्र पदार्थ है ? इसको केवल शाब्दिक रूप में ही जानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना, बल्कि इसे आचरण में लाना, तभी इस योग-मार्ग पर स्थिर रह पाएँगे।

३२. प्रत्येक कार्य को करते हुए व्यक्ति ईश्वर की, जीव की या फिर किसी जड़ पदार्थ की उपासना करता रहता है, इनमें ईश्वर की उपासना करना सबसे उत्तम है। जब तक व्यक्ति ईश्वरोपासना, ईश्वर-प्रणिधान में रहेगा तब तक बुरे विचारों, क्लेशों से बचा रहेगा। धीरे-धीरे उसके बुरे संस्कार भी क्षीण हो जाएँगे। इसलिए कोई भी स्थूल कार्य करते समय मन को खुला मत छोड़ो। सभी स्थूल कार्य करते हुए व्यक्ति मानसिक रूप से ईश्वर से सम्बद्ध रह सकता है, अतः उसे योग, सिद्धान्त-विचार, भाषा, व्यवहार आदि विषयों की खोज में लगाए रखो, अन्यथा वही मन अनर्थ का कारण बन जाएगा।

३३. जो व्यक्ति हर समय ईश्वर से जुड़ा रहता है, वह इतना सावधान रहता है कि मुझसे कहीं कोई त्रुटि न हो जाए, मेरे कारण किसी को कोई कष्ट न हो जाए। इस प्रकार से उसके सारे क्रिया-व्यवहार अलग ही होते हैं। वह मौन-गम्भीर रहता हुआ मन में किसी भी तरह का विकार

उत्पन्न नहीं होने देता है। एक बार जो सत्य बात बता दी उसे तुरन्त स्वीकार कर आचरण में ले आता है, यही वास्तविक जीवन है।

३४. ईश्वर की उपासना करते समय जो ज्ञान, मान्यतायें रहती हैं, वे ईश्वर को छोड़ संसार की उपासना में लगते ही बदल जाती हैं, ऐसा प्रायः देखा जाता है।

३५. जब तक व्यक्ति ईश्वर से जुड़ा रहता है तब तक प्राकृतिक गुणों, सत्व-रज-तम, के प्रभाव से बचा रहता है। क्योंकि ईश्वर के सान्निध्य से जो नया-नया ज्ञान और वास्तविक सुख मिलता है वह प्राकृतिक सुख से बहुत उत्कृष्ट होता है इसलिए वह प्राकृतिक सुख को नहीं चाहता।

३६. संसार की कोई भी वस्तु चाहे चक्रवर्ती साम्राज्य भी क्यों न हो, उसमें उतना सुख नहीं, जितना कि ईश्वरोपासना में है, परन्तु व्यक्ति इसको नहीं जानता, नहीं मानता अतः दुःखी, क्लेशित रहता है। ईश्वरोपासना के जो विधि-विधान हैं उनको भी जानना चाहिए, जैसे कि किस ईश्वर की, कैसे उपासना की जाए ? तभी वास्तविक उपासना कर सकता है अन्यथा अज्ञान-अन्धकार में भटकता रहेगा।

३७. व्यक्ति का इतना अभ्यास होना चाहिए कि सभी कार्यों को करते हुए भी ईश्वर से सम्बन्ध बनाये रखे।

३८. ईश्वर-समर्पण रखने के लिए प्रत्येक क्षण अत्यन्त पुरुषार्थ, तप, मन-इन्द्रियों पर संयम रखना पड़ता है।

३९. संन्यासी सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता है अर्थात् सभी के सामने स्पष्ट कहता है कि मैं किसी से राग-द्वेष, पक्ष-पात आदि नहीं करुँगा, मन-वचन-कर्म से एक जैसा व्यवहार करुँगा। इसके लिए सारी लौकिक प्रवृत्तियाँ समाप्त करनी आवश्यक हैं, जो सदा ईश्वर से जुड़े रहने से होती हैं।

४०. सब कुछ जानने वाला तो केवल ईश्वर ही है, वही न्यायानुसार सबको फल भी देता है। इस प्रकार जानने समझने पर व्यक्ति ईश्वर की

ओर आकृष्ट होता है और लोक से उसकी प्रवृत्ति हटती है। ऐसे ही सभी लौकिक जड़-चेतन वस्तुओं में समझना चाहिए।

४१. जिस समय व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर ईश्वर से जुड़ता है उस समय जो ज्ञान, सुख-शान्ति, पवित्रता आती है, वह ईश्वर को छोड़कर कभी नहीं आ सकती। अन्तर्मुखी होने से बाह्य लौकिक वृत्तियों को उठाने की इच्छा नहीं होती है, एषणाएँ प्रेरित नहीं करती हैं, मनोनियन्त्रण रहता है, इसलिए यह ग्रहण करने योग्य है, इसके विरुद्ध त्याज्य है।

★ ★ ★

उपासना

१. जब व्यक्ति सोचता है कि कैसे मैं इन क्लेशों से छूट जाऊँ, इनका क्या उपाय है ? तब इस उपाय को अपनाना चाहिए कि — एक क्षण भी व्यक्ति ज्ञान, कर्म, उपासना से रहित नहीं हो सकता, अतः ईश्वर या जीव या प्रकृति-विकृति इनमें से किसी एक की उपासना अवश्य करेगा। निद्रा-काल को छोड़कर शेष जाग्रत और स्वप्न में भी यही स्थिति रहेगी। इनमें ईश्वर की उपासना और अन्य की उपासना में अन्तर यह है कि ईश्वर की उपासना को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ की उपासना करते हुए काम, क्रोध आदि क्लेश सताते रहते हैं, चाहे कितना भी प्रयास करे पूर्णरूपेण इनसे छूट नहीं सकता। परन्तु ईश्वर की उपासना करते समय ये क्लेश नहीं सताते हैं। इस प्रकार गवेषणा करता हुआ ईश्वर से सहायता मांगता है, वह देखता है कि जब-जब मैं ईश्वरोपासना छोड़ता हूँ तब-तब ये एषणाएँ मुझे क्लेशित करती हैं तो निश्चय से अब मैं कभी भी ईश्वरोपासना नहीं छोड़ूँगा। दिन भर अपना परीक्षण करता रहता है कि कहीं ईश्वर से सम्बन्ध तो नहीं तोड़ दिया ? पूर्ण पुरुषार्थ से ईश्वर से जुड़े रहने का प्रयास करता है। जैसे मेले में मिठाई की बहुत सी दुकानें हैं। एक बालक बार-बार इधर-उधर देखता जाता है। परन्तु जब उसे एक लड्डू दे दिया गया तो उसने इधर-उधर देखना और जाना बन्द कर दिया। ऐसे ही जब ईश्वर

रूपी लड्डू मिल जाएगा तो अन्य वस्तुओं की ओर दृष्टि का जाना बन्द हो जाएगा ।

२. ईश्वर को एक क्षण भी भूलकर व्यक्ति पाप से, अधर्म से बच नहीं सकता अत: सदैव ईश्वर की उपासना में संलग्न रहना चाहिए। उपासना काल में यह नियम बना लेना चाहिए कि मैं आत्मा अपनी इच्छा, प्रयत्न पर पूर्ण नियन्त्रण रखूँगा, एक विषय में ही मन को लगाऊँगा । इस प्रकार व्यवहार में अभ्यास करने से धीरे-धीरे आत्मा एकाग्र होकर एक समय में अपनी इच्छानुसार एक ही विषय को उठाने में समर्थ हो जाता है । अन्यथा इसमें भी अनेक स्तर बनते रहते हैं, जैसे –

क विषयान्तर में जाने से पूर्व ही रोकना ।

ख. विषयान्तर में जाते ही रोकना ।

ग. लम्बे काल के पश्चात् रोकना ।

३. योग में रहना और न रहना, ये दोनों विपरीत, भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। योग में रहने वाला स्वयं को निरुद्धावस्था में अविद्या, सांसारिक बन्धनों, दु:खों से मुक्त देखता है। कभी रोग आदि अनेक कारणों से उसकी स्थिति नीचे गिर जाती है और वह क्षिप्त आदि अवस्थाओं से युक्त, विद्युत् की भांति कार्य करने वाले मन से जुड़कर योग से हटकर लौकिक बन जाता है । परन्तु जिसने बार-बार अभ्यास करके दृढ़ स्थिति बना ली है वह पुन: पुरुषार्थ करके अपनी स्थिति को सम्पादित कर लेता है । जिसका ऊँचा विवेक-वैराग्य अभ्यास नहीं है वह योग मार्ग से हट भी सकता है।

४. जब व्यक्ति विभिन्न योनियों के जीवों को देखता है कि वे कितने अज्ञान अन्धकार में पड़े हैं ? कैसे कैसे दु:ख उठा रहे हैं ? कोई रक्षा करने वाला नहीं है । कोई शिकायत सुनने वाला नहीं है । जब व्यक्ति इस प्रकार से ईश्वरीय न्याय व्यवस्था को देखता है तो पाप, अधर्म, अन्याय नहीं करता और आस्तिक बन जाता है ।

५. जब व्यक्ति मृत्यु और न्यायकारी ईश्वर को सतत अनुभव करता है तब धार्मिक, विद्वान, ईश्वर भक्त होता है । यदि ऐसा अनुभव नहीं करता

तो अधार्मिक, अविद्वान्, नास्तिक होता है । यजुर्वेद ३५/४ में कहा –

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।

गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥

हे मनुष्य ! यह तेरा शरीर कल रहेगा या नहीं कोई निश्चित नहीं । पत्ते पर जैसे बूंद का जीवन है वैसे तेरा जीवन है । इसलिए तू उस पुरुष = ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा कर ।

६. उपासना से सम्बद्ध विवेचन –

● सत्य की खोज करने वाला, सत्य का गवेषक सारे विश्व के गुण-कर्म-स्वभाव, ज्ञान, बल का अच्छी प्रकार से परीक्षण कर लेता है तो उसे ईश्वर के निर्वाचन के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखता । वह देखता है कि संसार के अन्य सभी पदार्थ जैसे अभाव को प्राप्त हो गए हैं । केवल एक ऐसा पदार्थ रह जाता है जिसे वह किसी भी मूल्य पर छोड़ना नहीं चाहता । वह पदार्थ ईश्वर है जिसके समान व अधिक कुछ नहीं । वह इस स्थिति को छोड़ना नहीं चाहता, चाहे कोई मान-अपमान करे, गाली दे अथवा धक्का दे । इस काल में उसे ईश्वर इतना प्रिय लगने लगता है कि उसे अपना भी अभाव प्रतीत होने लगता है ।

● यदि वह असावधानी से किसी भी क्षण ईश्वर की उपासना, समर्पण छोड़ता है तो तुरन्त उसे क्लेश सताने लगते हैं । पुनः जिस प्रकार से वह स्थिति बनाई थी, वैसा करने लगता है । जहाँ से गवेषणा आरम्भ की थी, वहाँ से पुनः गवेषणा प्रारम्भ कर देता है। फिर उसी स्थिति को प्राप्त करने का पूर्ण पुरुषार्थ करता है । ऐसी स्थिति बनाए रखने के लिए उसे सतत विवेक-वैराग्य-अभ्यास को उपस्थित रखना पड़ता है । उसे आँख खोलने की भी इच्छा नहीं होती । अन्य किसी लौकिक विषय को सोचने-विचारने की न तो इच्छा होती है और न ही समय होता है ।

● ईश्वर-प्राप्ति का मुख्य स्थान हृदय-प्रदेश बताया है । पुनरपि अन्य स्थान में भी जीव अपने सामर्थ्य, अनुकूलता के अनुसार ध्यान कर सकता है ।

२. उपासना-काल में ईश्वर-समर्पण, ईश्वर-प्रणिधान का प्रयोग–

● पहले ईश्वर का लक्षण सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दस्वरूप आदि का ध्यान कर, व्याप्य-व्यापक भाव लिया। पुनः ईश्वर-समर्पण अर्थात् ये जितनी भी वस्तुएँ हैं ज्ञान, बल आदि सभी ईश्वर की हैं मनुष्य या अन्य किसी की नहीं हैं। ईश्वर ही उनकी रचना, पालन, प्रलय करता है। यह सब ईश्वर को साक्षी मानकर चल रहे हैं। अतः हम गौण स्वामी बनकर प्रयोग करें। इनका प्रयोग ईश्वर की प्राप्ति के लिए करूँगा, विषय-भोग के लिए नहीं, यह निर्णय हो गया, जब ऐसा मान लेते हैं तो ईश्वर-समर्पण बन गया।

उस स्थिति में विवेक की दृष्टि से सारा संसार अनित्य दिखता है। व्यक्ति उस ईश्वर-समर्पण से इतनी शान्ति का अनुभव करता है कि वह चाहता है कि यही स्थिति बनी रहे। मान लो कोई स्मृतिवृत्ति आ जाए तो वह अवस्था भंग न हो जाए, इसके लिए वह व्यवहार-काल में भी मौन-गम्भीर रहता है, हँसना-हँसाना कुछ भी नहीं करता। ऐसी स्थिति में लोग उसे पागल कहते हैं परन्तु वह संसार को मरा हुआ देखता है क्योंकि अनित्य को अनित्य देखना ही ज्ञान है और वह स्वयं को आकाश में उठा हुआ देखता है।

● इस संसार में, जीवात्मा में और जहाँ जीवात्मा व संसार नहीं हैं वहाँ भी ईश्वर है। ईश्वर की इस व्यापकता में संसार लुप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो सुख मिलता है वह संसार की अन्य वस्तु में नहीं मिलता।

● ज्ञान का स्तर, धर्म, मन-इन्द्रियों पर संयम जब तक बना रहेगा तब तक यह सुख की स्थिति बनी रहेगी, अन्यथा नहीं। इस स्थिति के सम्पादन में विवेक-वैराग्य – अभ्यास को सतत बनाये रखना पड़ेगा। अन्यथा एक की भी कमी होने पर यह स्थिति टूट जाएगी। इसके लिए सत्पुरुष, ऋषिकृत ग्रन्थ चाहिएँ। इसके पश्चात् ईश्वर को गुरु बनाना होता है। वैसे कोई विरला ही ईश्वर को गुरु बनाता है।

● ईश्वर-प्रणिधान वाला जो भी उपकार करता है उसमें यह मानसिकता रखता है कि मैं ईश्वर की सहायता से सब कुछ कर रहा हूँ, बिना उसके कुछ नहीं कर सकता। यदि वह सोचे कि मैंने अपने ज्ञान, सामर्थ्य से यह ईश्वर-प्रणिधान सिद्ध किया है तो उसका ईश्वर-प्रणिधान टूट जाएगा।

● अन्तर्मुखी रहने के लिए बहुत संयम अपेक्षित है। इसमें शरीर, मन-इन्द्रियाँ, अहंकार सब को संयम में रखना होता है। कोई शारीरिक, वाचनिक, मानसिक कुचेष्टा नहीं कर सकते। जब व्यक्ति बाहर के विषयों से हटकर अन्तः वृत्तिक होता है तब ईश्वर से सुख मिलता है और वह बाह्य-विषयों में आकृष्ट नहीं होता है। जब ऐसा नहीं करता तो इन्द्रियाँ विषयों में जैसे बलात् घसीट कर ले जाती हैं, चाहते हुए भी व्यक्ति उनको रोक नहीं पाता।

● ईश्वर से प्रीति अधिक होने पर अन्तःवृत्तिक होने में सरलता होती है और सांसारिक विषयों में दुःख दिखता है।

● व्यक्ति व्यवहार में ऐसा प्रत्यक्ष देख सकता है कि जब तक वह ईश्वरोपासना में लगा रहता है तो उससे विद्या-विवेक आदि प्राप्त होते रहते हैं, उससे व्यक्ति राग-द्वेष आदि क्लेशों से बचा रहता है। यदि उसने क्षणभर के लिए भी ईश्वर-समर्पण, प्रणिधान व उपासना छोड़ दी तो उसे क्लेश तुरन्त आकर पकड़ लेंगे। इसका एक उपाय यह भी है कि सब कुछ ईश्वर का ही मानो अपना कुछ नहीं। सभी पदार्थों का प्रयोग उसकी आज्ञा के अनुसार ही करो। जब व्यक्ति इस शिक्षा को ग्रहण कर, श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार के माध्यम से आचरण में लाता है और ईश्वर से जुड़े रहने की स्थिति को दृढ़ करता है तो वह विपरीत आचरण वाले व्यक्तियों के साथ रहते हुए भी अपने आदर्शों से नहीं डगमगाता, उनको नहीं छोड़ता है।

विवेचन – ३. रुग्णावस्था में उपासना से सम्बद्ध कुछ व्यक्तिगत अनुभव –

● जब मेरे शरीर में रोगों की कम तीव्रता की स्थिति में जो दुःख होता है वह ईश्वर की उपासना से मिलने वाले सुख से दब जाता है।

यह ईश्वरोपासना का फल है, यह प्रत्यक्ष है, जैसे अभी रोगों की स्थिति अति गम्भीर है किन्तु यदि मैं उपासना में लग जाऊँ तो ईश्वर से सुख मिलने लगेगा और उसके नीचे रोगों का बहुत सा दुःख दब जाएगा ।

● जो ईश्वर से मिलने वाले सुख का जो स्थान ऋषि ने बताया है कि दोनों स्तनों के ऊपर कण्ठ के नीचे वह स्थान है तो रोगों में जलन का स्थान भी वही है । इसलिए दोनों से पृथक् होना बहुत कठिन है ।

● अब रोगों की स्थिति में मुँह की जलन, कान में आवाज तीव्र तो है पर अति तीव्र नहीं है । इस स्थिति में जब ईश्वर की उपासना करते हैं तो रोगों से होने वाला बहुत सा दुःख दब जाता है और ईश्वर का सुख मिलता है । जैसे वर्तमान में शरीर की स्थिति अति निर्बल है, परन्तु रोग तीव्र नहीं है इसलिए अब ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना प्रारम्भ करूँगा । चित्त की अन्य अवस्थाओं को रोककर समाधि मे जाऊँगा उससे ईश्वर के सुख की अनुभूति होने लगेगी । जब सारी वृत्तियाँ रुक जाएँगी तब मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ेगा, शरीर पर भी प्रभाव पड़ेगा पुनः शरीर में शक्ति आ जाती है, यह योग की बात है ।

● ईश्वर की उपासना, रोग की तीव्रता में उत्पन्न दुःख को, एक सीमा तक अनुभव नहीं होने देती, परन्तु उस स्थिति में नींद नहीं ले सकते क्योंकि नींद के लिए उपासना छोड़नी पड़ेगी और उपासना छोड़ते ही रोग के कारण दुःख अधिक मात्रा में अनुभव में आने लगता है, पुनः नींद में बाधा खड़ी हो जाती है ।

● ईश्वरोपासना और रोगजनित दुःख में समन्वय करके नींद लेने का प्रयास करना अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान तथा मानसिक-स्तर विशेष पर निर्भर है ।

● इस परिस्थिति में बाह्य वस्तुओं में प्रेम, उनमें सुख मानना, उनकी उपासना करना, चाहे वह धार्मिक रूप में हो या अधार्मिक रूप में, इनको छोड़कर व्यक्ति जब केवल ईश्वर में ही तल्लीन होता है तब ईश्वर की ओर से उसे सुख, ज्ञान, धैर्य, सहनशीलता आदि प्राप्त होते हैं ।

● जब रोग की स्थिति अति तीव्र हो जाती है तब ईश्वर की उपासना भंग हो जाती है, रोग पूरी तरह अनुभव में आने लगता है। परन्तु उस समय भी उसमें सहनशक्ति, धैर्य बना रहता है, रोता चिल्लाता नहीं है। और यह ज्ञान, बल, धैर्य ईश्वर से प्राप्त है, मेरा नहीं है, यह मान्यता बनी रहती है।

७. उपासना के बाधकों को हटाना –

● आत्मा पर पूर्ण नियन्त्रण रखना अत्यन्त पुरुषार्थ-साध्य है। क्योंकि प्रायः व्यक्ति को पता ही नहीं चलता कि कब मैंने कौन सा विषय उठा लिया ? इसका उपाय सत्यार्थ प्रकाश में षट्क-सम्पत्ति में लिखा है – शरीर, मनादि को बुरे कार्यों से रोकना और धर्म में लगाना। जैसे उपासना काल में व्यक्ति ध्यान करता है – ओं भूः, हे ईश्वर ! आप प्राणों के भी प्राण है। इतने में ही अन्य विचार कर लेता है कि कोई मेरे पास बैठा है और ऐसा है। शरीर, रूपादि सभी का विचार कर लेगा। इसका कारण है एक ही समय में दो वस्तुओं की इच्छा करना। यह सब इतनी तीव्रता से होता है कि व्यक्ति को पता ही नहीं चलता। घण्टों तक ऐसी स्थिति बनी रहती है फिर कहीं जाकर पता चलता है। कोई थोड़े काल में पकड़ लेता है, कोई अधिक काल में, इस प्रकार इसके अनेक स्तर भी होते हैं।

● मन को विषय में जाने से पहले ही रोक लेना यह उत्तम स्थिति है। मन को, विचारपूर्वक-ज्ञानपूर्वक किसी विषय में चलाना, यह स्थिति लम्बे अभ्यास, पुरुषार्थ, तप-त्याग से आती है। इसके लिए अपरिग्रह का मानसिक रूप में पालन होना चाहिए। यह पर्याप्त कठिन है, थोड़े अभ्यास-प्रयत्न से यह कार्य सिद्ध नहीं होता है। पहले आत्मा और अन्तःकरण से अशुभ कर्म करने की इच्छा को हटाया जाता है।

● विषयों में तीव्र इच्छा होने पर एक तो है तत्काल पता चलना और तत्काल रोक देना।

● दूसरा लम्बे काल में पता चलना और तत्काल रोक देना।

● तीसरा लम्बे काल में पता चलना और लम्बे काल में रोकना।

● चौथा बहुत प्रयास करने पर भी नहीं रोक पाना ।

जैसे सुन्दर रूप की स्मृति उठा ली और उठाते ही पता चल गया कि यह तो अनुचित है, बुराई है, इसको बन्द कर देना चाहिये, और पुनः रोक दिया ।

दूसरा जैसे सुन्दर रूप की स्मृति उठा ली और देखने लग गए। देखते-देखते एक मिनट, दो मिनट बीतने के पश्चात् लगा कि यह तो अनुचित है, बुराई है, इसको बन्द कर देना चाहिये था और पुनः रोक दिया ।

तीसरा जैसे सुन्दर रूप की स्मृति उठा ली और देखने लग गए । देखते-देखते एक मिनट, दो मिनट बीतने के पश्चात् लगा कि यह तो अनुचित है, बुराई है, इसको बन्द कर देना चाहिये था और पुनः रोकने लगा तो और एक मिनट, दो मिनट बीत गए ।

इसी स्थिति में बहुत प्रयास करने पर भी रोक नहीं पाया और कहने लगा, चलो कोई बात नहीं देखते रहो, आगे स्वतः रुक जाएगा और पुनः विशेष हानि उठाकर शोकग्रस्त हो गया ।

इससे एक तो पुराने भोगों के संस्कार जगते हैं, नए उत्पन्न होते हैं पुनः यही संस्कार आगे भोगों में प्रेरित करते हैं । व्यक्ति के दिमाग से यह बात नहीं निकलती कि मन-बुद्धि अपने आप विषयों में नहीं जाते हैं, मैं अपने इच्छा, प्रयत्न से इनको भेजता हूँ। अपने को कर्त्ता न मानकर उनको कर्त्ता मान लेता है ।

निदान – ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव, वेद, सृष्टिक्रम, ऋषिकृत ग्रन्थ, आठ प्रमाण इनके विरुद्ध जो भी बात होगी, मैं उन्हें नहीं मानूंगा, नहीं करूँगा । अपनी बात को झूठा मानूँगा । इस प्रकार से व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है ।

८. उपासना में मन क्यों नहीं लगता ? इसके कुछ कारण–

१. साधक ईश्वर को समस्त दुःखों से रहित, नित्यानन्द से परिपूर्ण और समस्त पदार्थों से श्रेष्ठ नहीं मानता है ।

२. साधक समझता है कि स्वतः ही विषयों की इच्छा होती है, मैं नहीं करता हूँ ।

३. साधक समझता है कि मन चेतन है और चेतन होने से मन स्वतः ही विषयों में चला जाता है मैं नहीं भेजता ।

४. साधक ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करने से पूर्व उनसे होने वाले लाभों और न करने से होने वाली हानियों को नहीं जानता ।

५. साधक पाँच इन्द्रियों के विषय-भोग में विशुद्ध सुख मानता है, विषयों में चार प्रकार के दुःख यथा —परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख, गुणवृत्तिविरोध दुःख को नहीं मानता ।

६. साधक सत्यासत्य, हानि-लाभ और पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का विशेष परीक्षण नहीं करता है, जिस से वह हानिकारक पदार्थों को ग्रहण कर लेता है और लाभदायक अर्थात् सर्वश्रेष्ठ गुणयुक्त ईश्वर को छोड़ देता है ।

७. जिस स्थान में, अर्थात् शरीर में हृदय-देश में ईश्वर की प्राप्ति होती है, साधक उस स्थान में ईश्वर की प्राप्ति को न मानकर किसी दूर देश में मानता है ।

८. साधक ईश्वर साक्षात्कार करने वालों को दुःखी मानता है और जो धन-सम्पति, राज्य आदि ऐश्वर्यों के अधिकारी हैं उनको सबसे सुखी मानता है ।

९. साधक आत्मा, मन और बुद्धि पर सतत अंकुश नहीं रखता है।

१०. साधक संसार में पाँच इन्द्रियों के विषयों के भोग को ईश्वर से श्रेष्ठ मानता है ।

११. साधक ऐसा नहीं मानता कि ईश्वर सदा स्थिर रहता है, वह ईश्वर को चलता-फिरता मानता है ।

१२. साधक तीन एषणाओं की पूर्ति करना मुख्य मानता है और ईश्वर को प्राप्त करना गौण मानता है ।

१३. साधक योग के यम-नियम आदि आठ-अंगों का मन-वचन-कर्म से सार्वभौम रूप में आचरण करना दुःखदायी मानता है और उसके विपरीत आचरण को सुखदायी मानता है ।

१४. साधक ईश्वर द्वारा बनाए पदार्थों को ईश्वर का न मानकर स्वयं को उन पदार्थों का स्वामी मानता है ।

१५. साधक समझता है कि ईश्वर अपनी इच्छा से किसी को भी सुख-दुःख दे देता है, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय के अनुसार फल नहीं देता है ।

१६. साधक को ईश्वर-जीव-प्रकृति के विषय में मिथ्याज्ञान होने से ईश्वर के वास्तविक स्वरूप के विषय में संशय उत्पन्न होता है ।

१७. साधक उपासना-काल में एक ओर तो ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा करता है और दूसरी ओर अन्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति की, इससे उसका मन उपासना में नहीं लगता है ।

१८. सत्यासत्य-धर्माधर्म को जानने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में जो पाँच प्रकार की परीक्षा लिखी है, साधक उसको नहीं जानता, जब कि उसके जाने बिना सत्यासत्य, धर्माधर्म का परीक्षण नहीं किया जा सकता है ।

१९. जिस व्यक्ति ने वैदिक-रीति से योगाभ्यास करके ईश्वर का साक्षात्कार किया है, ऐसे गुरु को अच्छे प्रकार से पहचान कर श्रद्धापूर्वक उनको अपना गुरु नहीं बनाता अथवा बनाकर भी गुरु के आदेश का निष्ठापूर्वक पालन नहीं करता है ।

२०. साधक वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने के पश्चात् भी उसके अनुसार आचरण नहीं करता है ।

२१. साधक को ईश्वर के विषय में संशय होता है कि क्या कोई ऐसी भी वस्तु हो सकती है जिसका देश और काल की दृष्टि से न तो आदि है और न ही अन्त ।

२२. कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि की रचना, पालन और प्रलय करता हुआ दिखाई तो देता नहीं है। इससे साधक को ईश्वर के विषय में संशय उत्पन्न होता है।

२३. कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि अपने आप बनती-बिगड़ती रहती है इसलिए ईश्वर को मानना लाभप्रद नहीं है। इससे साधक के मन में संशय उत्पन्न होता है।

२४. कुछ लोग कहते हैं कि यह सृष्टि सदा से बनी-बनाई चली आ रही है और न कभी इस सृष्टि का विनाश होगा। इसलिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। यह मान्यता भी साधक के मन में संशय उत्पन्न करती है।

२५. ईश्वर के मानने वाले तो कहते हैं कि ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु साधक समझता है कि इन्द्रियाँ तो ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं करवा सकतीं। इसलिए इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने से ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

२६. साधक को आज तक एक भी मनुष्य नहीं मिला कि जिसने इन्द्रियों से ईश्वर का प्रत्यक्ष किया हो और अन्यों को प्रत्यक्ष करवाया हो। इसलिए साधक को ईश्वर का प्रत्यक्ष होने में सन्देह होता है।

२७. ईश्वर सर्वशक्तिमान् आनन्दस्वरूप है तो बिना परिश्रम के जीवों को आनन्द क्यों नहीं देता ? इससे साधक को ईश्वर के अस्तित्व में संशय उत्पन्न होता है।

२८. साधक को संशय होता है कि ईश्वर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के बिना कैसे सृष्टि की रचना, पालन और प्रलय आदि कार्य कर सकता है ?

२९. ईश्वर को मानने वाले ईश्वर को एक वस्तु कहते हैं जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों से रहित है। साधक को संशय होता है कि बिना शब्द आदि गुणों के कोई वस्तु कैसे हो सकती है ?

३०. ईश्वर को मानने वालों में मतभेद हैं — कोई ईश्वर को साकार मानता है, कोई निराकार मानता है। साधक को संशय उत्पन्न होता है कि इन दोनों में से क्या सत्य है, किसकी बात मानी जाए ?

३१. ईश्वर के मानने वालों में कोई जीव को ईश्वर का ही अंश मानते हैं। कुछ लोग केवल ईश्वर को ही मानते हैं प्रकृति और जीव को नहीं मानते हैं - इन कारणों से साधक को ईश्वर की सत्ता के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है।

३२. कोई कहता है कि ईश्वर अपने में से सृष्टि की रचना करता है, कोई कहता है कि प्रकृति से सृष्टि की रचना करता है। साधक को संशय होता है कि ईश्वर के विषय में कौन सी बात ठीक मानी जाए ?

३३. ईश्वर के विषय में कोई कहता है कि ईश्वर समय-समय पर अवतार लेकर दुष्टों को मारता है, कोई कहता है कि ईश्वर अवतार ही नहीं लेता। साधक को ईश्वर के वास्तविक स्वरूप में इससे भी संशय होता है।

३४. ईश्वर की उपासना करने से ईश्वर की प्राप्ति होती है, ऐसा माना जाता है। जब ईश्वर जीवों के अन्दर बाहर विद्यमान है, अर्थात् बाहर-भीतर व्यापक रहता है, तो व्यापक होने से वह पहले ही सभी को प्राप्त है, पुनः साधक को संशय होता है कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए उपासना करने की क्या आवश्यकता है ?

३५. कोई कहता है कि ईश्वर ने जीवात्मा को जिस योनि में एक बार भेज दिया उसी योनि में पुनः पुनः जाता रहेगा। जैसे जो जीवात्मा गाय के शरीर में वर्तमान है, वह सदा गाय की योनि में ही जन्म लेता रहेगा। कोई कहता है कि ईश्वर कर्मानुसार मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में जीव को भेजता है। इससे साधक को ईश्वर के न्याय पर संशय होता है।

३६. ईश्वर की उपासना करने से जीवात्मा की मुक्ति मानी जाती है और जिसकी अवधि भी है। उस अवधि के समाप्त होने पर जीवात्मा संसार के जन्म-मरण से होने वाले सुख-दुःख में पुनः आ जाता है। अब साधक को संशय होता है कि जिस मुक्ति से लौटकर ही आना है तो वह मुक्ति क्या हुई ? और ऐसी मुक्ति से क्या लाभ है ?

★ ★ ★

ईश्वर-प्रणिधान

१. जब तक व्यक्ति ईश्वरोपासना, ईश्वर-प्रणिधान, ईश्वर-समर्पण में रहता है तब तक क्लेशों, दुःखों से बचा रहता है । ईश्वरोपासना आदि के छूटते ही उसे क्लेश सताने लगते हैं, इसलिए इनको कभी नहीं छोड़ना चाहिए ।

२. जैसे माँ अपने बच्चे को दूध भी पिलाती जाती है, अन्य कार्य करती जाती है और बच्चे का ध्यान भी रखती है । वैसे ही योगाभ्यासी अभ्यास करते-करते ईश्वरोपासना में भी रहता है और अन्य कार्य भी करता जाता है ।

३. जैसे साईकल सीखने वाला व्यक्ति प्रारम्भ में साईकल चलाते समय विशेष इधर-उधर नहीं देख पाता है । विशेष इधर-उधर देखता है तो साईकल नहीं चला पाता । परन्तु लम्बे अभ्यास के पश्चात् वह साईकल भी चला लेता है और इधर-उधर देखता जाता है और आगे अभ्यास होने पर हाथ छोड़कर भी चला लेता है । वैसे ही योगाभ्यासी अभ्यास करते-करते ईश्वरोपासना में भी रहता है और अन्य कार्य भी करता जाता है ।

४. ये सब मैं अपनी प्रशंसा के लिए नहीं बता रहा हूँ । ये न मेरे, न अन्य किसी के गुण हैं, सब ईश्वर के हैं । ये आपको इसलिए बताए जाते हैं कि आप भी ऐसे बन जाएँ ।

५. जब मैं पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक जी से दर्शन पढ़ता था तब आँखें बन्द करके ईश्वर-प्रणिधान की स्थिति बनाये रखता था, तब पण्डित जी मेरी स्थिति को न जानकर कहा करते थे कि ये ब्रह्मचारी तो सोते ही रहते हैं ।

६. ईश्वर-प्रणिधान से युक्त होकर सत्यासत्य, विद्या-अविद्या, अच्छा-बुरा का निर्णय करेंगे तो निश्चित और दोष-रहित ज्ञान होगा, अन्य अवस्थाओं में ऐसा ज्ञान नहीं होगा । ईश्वर-प्रणिधान में सत्य सत्य ही दिखेगा ।

७. ईश्वर-प्रणिधान की प्रारम्भिक अवस्था में स्वस्वामि-सम्बन्ध हटाते-हटाते जीव अपने को भी भूल सा जाता है, केवल ईश्वर ही ईश्वर दिखता

है । इस अवस्था में यदि वैदिक सिद्धान्त दृढ़ न हो तो कई बार व्यक्ति इस भ्रान्ति में भी पड़ सकता है कि सब कुछ ईश्वर ही है, सभी कार्य ईश्वर ही करता है । समाधि की उच्चावस्था में व्यक्ति पुनः स्वयं और ईश्वर को पृथक्-पृथक् अनुभव करने लगता है ।

८. जब तक व्यक्ति ईश्वर और अपने बीच विद्यमान व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को नहीं जान लेता तब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रकृति, विकृति और जीव से ईश्वर न कभी अलग हुआ है न होगा। इस स्थिति में कोई भी ऐसा स्थान या काल नहीं है कि ईश्वर से छिपकर कोई कार्य हो सके । ऐसा जानकर व्यक्ति सभी कार्य ईश्वर को समर्पित करके ईश्वर की उपासना करता है ।

९.जो व्यक्ति व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को अच्छी प्रकार से बनाकर आचरण में लाता है वह कभी संशय को प्राप्त नहीं होता है । जैसे कि व्याप्य-व्यापक मानने पर यह नहीं लगता कि कोई मेरे कर्मों को देखने वाला है या नहीं है, कर्मानुसार न्यायपूर्वक फल देगा या नहीं ? अपितु देखने वाला है और न्यायपूर्वक फल देगा ऐसा ही देखता और जिससे कभी पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता और दुःख क्लेश को प्राप्त नहीं होता है ।

१०. जब तक सर्वस्व का स्वामी ईश्वर को नहीं मान लेते हैं तब तक ईश्वर-प्रणिधान, उपासना आदि ठीक-ठीक नहीं कर सकते ।

११. प्रारम्भ में तो व्यक्ति को अभ्यास करते-करते केवल ईश्वर ही ईश्वर दिखने लगता है शेष को भूल सा जाता है । बहुत दौड़ लगाने पर भी उसे ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता । सभी स्थानों पर उसके ही गुण-कर्म-स्वभाव दिखाई देते हैं, यह ईश्वर-प्रणिधान की एक स्थिति है ।

१२. ईश्वर-प्रणिधान के लिए प्रथम ईश्वर को, उसके नाम को और उसके गुण-कर्म-स्वभाव को जानना जैसे गौ प्राणी, गौ शब्द, गौ से होने वाले लाभ ।

१३. जो भी पढ़ी-सुनी और विचार की हुई विद्या है तथा जो विद्यायुक्त निर्णित विषय हैं, उनको हर समय मन-मस्तिष्क में उपस्थित रखना, इसके साथ हर समय ईश्वर को मन-मस्तिष्क में उपस्थित रखना अत्यन्त पुरुषार्थसाध्य है। इसमें हर समय युद्ध जैसी स्थिति बनी रहती है। इसके लिए विशेष स्तर पर अपरिग्रह का पालन करना पड़ता है।

१४. सदैव ईश्वर-प्रणिधान से युक्त रहने पर आप में अच्छे गुण आने लगेंगे और दोष छूटते जाएँगे। उपनिषद् में भी कहा है कि ईश्वर ही एक ऐसा आलम्बन है जिसके रहते हुए व्यक्ति पाप कर्मों से बचा रहता है और पुण्यकर्मों से पृथक् नहीं रहता। इसलिए ईश्वर-प्रणिधान को अत्यन्त पुरुषार्थ करके ऐसा सिद्ध कर लेना चाहिए कि एक क्षण भी ऐसी स्थिति न हटे।

१५. पाप से बचने का एकमात्र उपाय ईश्वर-प्रणिधान है। इसलिए इसके लिए ही अत्यन्त पुरुषार्थ करना, सारी शक्ति इसी हेतु लगानी, क्योंकि ईश्वर-प्रणिधान छूट गया तो क्लेशों से नहीं बच-सकते।

१६. सृष्टि के पदार्थों में ईश्वर को सर्वप्रथम सिद्ध करना पड़ेगा, इसके लिए अपनी विरोधी मान्यता को हटाना पड़ेगा।

१७. सभी कार्य करते हुए ईश्वर-प्रणिधान स्थिर बनाने का अभ्यास करें क्योंकि ईश्वर-प्रणिधान कोई साधारण कार्य नहीं है और न ही कोई साधारण फल वाला है, यह बात हमेशा ध्यान में रखो।

१८. सर्वदा, सब देश में, सभी क्रियाओं = चेष्टामात्र में ईश्वर-प्रणिधान से युक्त रहो। इसका फल अक्षय है। ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या योगदर्शन, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि में लिखी है।

१९. जब ईश्वर छूट जाए और संसार से सम्बन्ध जुड़ जाए तब क्या सोचना चाहिए ? तब यह सोचना चाहिए—

१. अरे, मैंने तो ईश्वर से सम्बन्ध तोड़ लिया। पुनः जोड़ूँगा।

२. संसार अनित्य है, दुःखदायी है।

३. मैंने वेद ईश्वर, ऋषि की आज्ञा को भंग किया है, इसका दण्ड लूँगा।

★ ★ ★

योगमार्ग के साधन -

१. ईश्वर का ही सब कुछ मानना, तिलमात्र भी पदार्थ मेरा नहीं है, ऐसा मानना ।

२. तीनों कालो में जो सत्य है केवल उसी का ग्रहण करना, अन्य को छोड़ देना ।

३. भले ही वर्तमान में इतने संस्कार न हों लेकिन सत्य का इच्छुक अत्यन्त पुरुषार्थ से सब कुछ प्राप्त कर सकता है ।

४. अपने मन को नियन्त्रण में रखने के लिए सांसारिक प्रवृत्तियों, वस्तुओं से रुचि हटानी पड़ेगी । इसके लिए उनमें अनित्य, अशुचि, दुख, अनात्मा की दृष्टि रखनी होगी ।

५. वेद, ईश्वर की बात असत्य नहीं हो सकती जबकि अपनी बात असत्य हो सकती है, जैसे कि स्वयं प्रत्यक्ष विषय भी कालान्तर में मिथ्या लगने लगता है । इसलिए अपनी बात वेद, ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव, ऋषियों के विरुद्ध होगी तो उसको झूठी मानकर छोड़ना होगा और वेदादि की बात ऊँची माननी पड़ेगी ।

६. जब तक मन-वचन-कर्म से अपरिग्रह का पालन नहीं करेंगे तब तक सूक्ष्म बातें, जो योग से सम्बन्धित हैं, वे समझ में नहीं आ सकतीं।

७. जब व्यक्ति के आचरण में सार्वभौमा अहिंसा आ जाती है तो विचित्र प्रकार की बुद्धि बनती है, विशेष परिज्ञान होता है । इसमें मैं और मेरा हटकर सब कुछ ईश्वर का हो जाता है, साथ में यह भी चिन्तन रहता है कि सब अनित्य है । ऐसे वैराग्य वाला व्यक्ति अकेला भी यदि हिंसक प्राणियों के जंगल में जाएगा तो उसे मृत्यु का भय नहीं रहेगा, अपनी रक्षा तो करेगा जैसे सैनिक अपनी मृत्यु सामने रखकर भी अपनी रक्षा करता है ।

८. क्या आपको, सब कुछ ईश्वर का ही है, यह दिखने लग गया है ? यदि ऐसा नहीं दिखता है तो अभी योग-मार्ग पर नहीं बढ़ सकते । इसके लिए सारी सृष्टि को प्रलय कारण रूप में बौद्धिकस्तर पर ले जाना पड़ता

है, प्रकृतिरूप=सूक्ष्म रूप में देखना पड़ता है। प्रकृति के सूक्ष्म कण सत्त्व-रज-तम अनादि हैं ये न कभी बनते हैं न बिगड़ते हैं, इनका रूपान्तरण होता रहता है।

९. **हेयं दुःखमनागतम्** सूत्र कहता है कि अभी से बुरे कर्म को छोड़ दो तभी आने वाले दुःख से बच सकते हो।

१०. किसी भी कार्य को करने से पहले उससे होने वाले हानि-लाभ पर विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि लाभ को जानने से उस कार्य में रुचि और हानि को जानने से उस कार्य में निवृत्ति = अरुचि होती है।

११. मनुष्य का यही धर्म है कि वह सब प्राणियों से प्रेम से वर्ते, जैसे गाय नए जन्मे बछड़े से प्रेम करती है अन्यथा व्यक्ति पशुओं के समान भी नहीं रहता है।

१२. जब ईश्वर की उपासना करनी हो और योग-मार्ग पर बढ़ना हो तो सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि सब प्राणियों से वैर-भाव छोड़ दें। इसे अहिंसा कहते हैं।

१३. जब व्यक्ति चार कर्म श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार पूर्वक विद्यादि पदार्थ ग्रहण करता है तो उसका सारा व्यवहार ही बदल जाता है।

१४. मनुष्य का मनुष्यपन, धर्म, कर्त्तव्य तभी सिद्ध है जब वह एक बार बताने से ही सीख ले और एक बात बताने से दस बातें और सीखे और आगे भी अपनी ऊहा से नई-नई बातें सीखे। इसके लिए विद्या-प्राप्ति के जो चार कर्म बताए हैं, श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार, उनको ठीक विधि के अनुसार अपने आचरण में लाना पड़ता है।

१५. जिस विषय में परस्पर मतभेद हो अथवा मतभेद होने की सम्भावना हो उस विषय को वार्तालाप/चर्चा का विषय नहीं बनाना चाहिए, उसे तब तक छोड़े रखना चाहिए जब तक कि आपसी संघर्ष, मानसिक तनाव, लड़ाई-झगड़े की संभावना बनी रहे। आगे चर्चा के अनुकूल वातावरण बनाते रहेंगे, पुनः वातावरण बन जाने पर चर्चा करनी चाहिए

इस स्थिति में प्रमाणों से कसी हुई बात बुद्धि में बैठ जाती है, उसे मान लेते हैं। ऐसा करने से यम-नियमों का पालन होता है अन्यथा नहीं होता है।

१३. जिस विषय में तालमेल हो, एकमत हो, उस विषय को सोचते, विचारते, चर्चा का विषय बनाते हुए आगे बढ़ना चाहिए। किसी को बलात् अपनी बात मनवाने का प्रयास नहीं करना चाहिए अथवा ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न करनी चाहिए। क्लेशों = यह एक बहुत बड़ा विज्ञान है, दुःखों से बचने का।

१४. शंका – ऋषि दयानन्द जी से सम्बन्धित एक बात सुनने में आती है कि – "वे समाधि का आनन्द छोड़कर लोक-कल्याण के लिए चल पड़े" यह कहाँ तक सत्य है ?

समाधान – इसमें ऐसा हो सकता है जिस समय उन्होंने यह बात कही या लिखी उस समय समाधि के विषय में उनकी गलत मान्यता रही थी, तथा कालान्तर में भी उसका सुधार नहीं कर पाए अथवा समाधि छोड़ने का अभिप्राय विशेष रूप से बैठकर समाधि लगाने को छोड़ना हो सकता है। अन्यथा किसी ने यों ही उनके नाम से यह बात प्रचलित कर दी, क्योंकि लोक-कल्याण का कार्य तो योगी समाधि में रहकर भी कर सकता है।

★ ★ ★

योगमार्ग में आने वाले बाधक -

१. जो ग्रहण करने योग्य हैं उनको ग्रहण न करना।

२. गुरु, आचार्य, ऋषि, वेद ने जो बाधक कारण बताएँ हैं उनको नहीं छोड़ता, ग्राह्य को ग्रहण नहीं करता।

२. बिना योग्यता के खण्डन-मण्डन करने में प्रवृत्ति, जैसे उसके लिए कुतर्क ढूंढते रहना ताकि दूसरे को नीचा दिखा सकें।

३. पूर्व जन्म के और इस जन्म के भोगों के संस्कार ।

४. लौकिक प्रवृत्तियों को अच्छा मानना और उनको हटाने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ नहीं करना । ऐसा करने से व्यक्ति के द्वारा गुणों का ग्रहण करना गौण हो जाता है और दोषों का ग्रहण करना मुख्य हो जाता है ।

५. योग के बाधको में से एक बाधक है 'अविरति' अर्थात् विषयों में राग होना और वैराग्य न होना । विषयों में राग इसलिए होता है कि व्यक्ति पूर्व में भोगे हुए दुःख को तो भूल जाता है और सुख को याद रखता है । दुःख को वह विवशता से भोगता है इसलिए उसके संस्कार इतने दृढ़ नहीं होते हैं जबकि सुख को तल्लीनता से, रुचिपूर्वक भोगने से उसके संस्कार अधिक दृढ़ होते हैं । इसलिए सुख के दृढ संस्कार दुःख के निर्बल संस्कारों पर प्रबल हो जाते हैं जिसके प्रभाव से व्यक्ति पुनः भोग में प्रवृत्त हो जाता है। यदि व्यक्ति दुःख को भी सुख की तरह, संस्कार दृढ़ करके, स्मरण रखे तो विरति अर्थात् वैराग्य होगा। जीवात्मा सुख चाहता है दुःख नहीं चाहता इसलिए भी सुख के संस्कार दृढ़ होते हैं ।

दोष कैसे छूटें ?

१. जो भी व्यक्ति अच्छा बनना चाहता है उसे अच्छे गुण ग्रहण करने और बुरे गुण छोड़ने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ करना पड़ता है। वह सारा पुरुषार्थ, बल-ज्ञान-विज्ञान अपने दोष छोड़ने में लगा देता है। पहले वह अपने दोष दूर करता है, फिर अपने मित्र-साथियों के, फिर समाज के दोष दूर करने का प्रयास करता है । फिर जब थक जाता है तो विश्राम करता है । विश्राम के पश्चात् पुनः अपने कार्य में लग जाता है ।

२. यह सामान्य नियम है कि जब व्यक्ति अच्छे कार्य करना प्रारम्भ कर देता है तो बुरे कार्य स्वयमेव ही छूट जाते हैं। यदि व्यक्ति यह कार्य करता हुआ निष्काम भावना बनाए रखता है तो वह दोष अच्छी प्रकार से छोड़ सकता है। इसके साथ-साथ वह सभी क्रिया-व्यवहार करता हुआ ईश्वरोपासना में रह सकता है ।

३. धर्म का पालन करने से भी व्यक्ति अधर्म से बचा रहता है। ऐसे ही यदि अच्छे कर्म करता रहे तो बुराई से बचा रहता है। **कुर्वन्नेवेह**

कर्माणि ..... इस मन्त्र में जीव को उत्तम कर्म सदा करने की प्रेरणा दी गई है ।

४. व्यक्ति प्रायः इस प्रकार से अपने अपुरुषार्थ की पुष्टि करता है कि मेरे संस्कार, सामर्थ्य कम हैं या नहीं हैं, यह दोष है, क्योंकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, यदि वह चाहे तो अत्यन्त पुरुषार्थ कर सकता है ।

५. अभी यह श्रवण से आने वाली विद्या है, फिर इस पर चिन्तन-मनन, निदिध्यासन कर आगे साक्षात्कार करना चाहिए । इसी प्रकार से अन्य विद्याओं की भी प्राप्ति होती है । किन्तु ऐसा विशेष ब्रह्मविज्ञान जानने-देने वाले कौन, कितने हैं ? सामान्यतया उसे जानने-बताने वाले तो बहुत हैं ।

★ ★ ★

पठन-पाठन

पढ़ने-पढ़ाने वालों में रुचि पैदा करने के चार उपाय –

१. विषय : जो कुछ पढ़ना-पढ़ाना होता है अथवा शास्त्र जिसको बताता है उसको 'विषय' कहते हैं और जो उसको पढ़ने वाला है उसको 'विषयी' कहते हैं । जैसे योगदर्शन का विषय योग है और उसको पढ़ने वाला 'विषयी' है ।

२. अधिकारी : जो पढ़ने-पढ़ाने में योग्य, पढ़े-सुने विषय को विचार मनन करके आचरण में लाने के योग्य है वह 'अधिकारी' होता है । किन्तु वह उलटा आचरण करने वाला न हो ।

३. सम्बन्ध : जो विषय पढ़ाया जाने वाला है वह प्रतिपाद्य और जो पढ़ने वाला है वह प्रतिपादक है । इन प्रतिपाद्य और प्रतिपादक का सम्बन्ध जानना ।

४. प्रयोजन : जो विषय पढ़ा-पढ़ाया जा रहा है वह किस प्रयोजन को सिद्ध करने वाला है अर्थात् उस विषय को आचरण में लाने से क्या फल होगा । जैसे योगदर्शन का विषय योग है । योग का प्रयोजन समस्त

दुःखों से निवृत्ति और नित्यानन्द की प्राप्ति है। जो व्यक्ति इन चार उपायों को ध्यान में रखता है वह विद्या के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है।

वाक्यार्थ बोध में चार कारण होते हैं –

१. आकाङ्क्षा : वाक्यस्थ शब्दों में अपने-अपने अर्थ स्पष्ट करने हेतु परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है जैसे देवदत्त चला गया। यहाँ 'देवदत्त' शब्द को 'चला गया' शब्द की और 'चला गया' शब्द को 'देवदत्त' शब्द की अपेक्षा है।

२. योग्यता : वाक्यस्थ शब्दों में अपने-अपने अर्थ स्पष्ट करने की योग्यता होती है अथवा जिस शब्द से जो अर्थ स्पष्ट हो उसे वैसा ही कहना, लिखना, बोलना चाहिये। जैसे जल से सींचना। जल में सिंचाई करने की योग्यता है, अग्नि में नहीं।

३. आसत्ति : वाक्यस्थ शब्दों में जिस-जिस शब्द के साथ जिस-जिस शब्द का सम्बन्ध है उस-उस शब्द को उस-उस शब्द के साथ बोलना, आसत्ति है। जैसे 'पहाड़ खाया अग्नि वाले देवदत्त ने'यह अनासक्ति युक्त वाक्य है। इस वाक्य में 'अग्नि वाले' शब्द के साथ 'पहाड़' शब्द का सम्बन्ध है और 'देवदत्त ने' शब्द के साथ 'खाया' शब्द का सम्बन्ध है।

४. तात्पर्य : वक्ता ने हृदय में जिस अर्थ को रखकर वाक्य का उच्चारण किया तो वैसा ही अर्थ जानना, कहना, तात्पर्य है।

उदाहरण : सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है। किसी ने इस वाक्य का तात्पर्य ठीक न समझ कर कहा – यदि ईश्वर प्रकृति और जीव दोनों का आदि मूल है तो वे अनादि नहीं रहे, केवल ईश्वर ही अनादि रहा, जब कि प्रकृति और जीव भी अनादि हैं ? इसलिए यहाँ आदिमूल का तात्पर्य = वास्तविक अर्थ है ईश्वर उत्पन्न पदार्थों का आदि मूल = निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। प्रकृति और जीव तो कभी उत्पन्न नहीं होते अतः उनके आदि कारण को बताने की अपेक्षा नहीं रहती है।

★ ★ ★

5

शिष्टाचार

१. शिष्टाचार के अन्तर्गत यह एक बहुत बड़ा विज्ञान है कि भाषा किस प्रकार से बोली जाए जिससे सामने वाले के हृदय में स्थित हो जाए और उसे अच्छी प्रकार से समझ आ जाए ।

२. अधिक बोलने का अभ्यास नहीं बनाना चाहिए, इससे बाह्यवृत्ति बनती है । व्यर्थ बोलने वाला व्यक्ति विवेक-वैराग्य, ईश्वर से दूर हो जाता है । गम्भीर रहते हुए नपे-तुले शब्दों का चयन करके बोलना चाहिए, इससे आध्यात्मिकता बनी रहती है । वाणी पर यदि नियन्त्रण नहीं रखेंगे अर्थात् जैसे-तैसे बोलते रहेंगे तो मन पर नियन्त्रण नहीं रहेगा और मन से जैसे-तैसे सोचते रहेंगे, वही विनाश का कारण बन जाएगा। इसलिए मन में अच्छे विचार करने की शक्ति भी बढ़ाओ ।

३. भाषा इस प्रकार बोलनी चाहिए कि वह मीठी हो, सत्य हो, एक-एक अक्षर-पद-वाक्य स्पष्ट सुनाई दे । दूसरा उसे अभिप्राय सहित समझ जाए, तब सन्तुष्ट होना चाहिए कि वाणी-व्यवहार ठीक हुआ ।

४. अपनी बात की पुष्टि के लिए बल लगाना, कठोर, अशिष्ट भाषा बोलना ठीक नहीं है । ये सब अभिमान के सूचक हैं । सामान्य व्यक्ति तो इससे प्रभावित हो जाएगा किन्तु बुद्धिमान् नहीं होगा । शिष्ट, बुद्धिमान्, धार्मिक व्यक्ति गम्भीर, मधुर भाषा को ही ठीक मानता है । इसलिए भाषा के व्यवहार में अधिक ध्यान देना चाहिए ।

५. धीरे-धीरे स्पष्ट, मधुर आदि बोलने से मन पर संयम और आध्यात्मिकता बनी रहती है । तेजी और अस्पष्ट बोलने से सुनने वाले को भाषा कठोर लगेगी, उसे समझ में कम आएगा । इससे अहिंसा आदि यम-नियमों का पालन नहीं होगा ।

६. ऋषियों के वाक्यों पर इतनी श्रद्धा होनी चाहिए कि यह लगने लगे कि ऋषि ने जो लिख दिया, वह ठीक है । यदि मेरी मान्यता उसके विरुद्ध है तो वह गलत है । दूसरा, जो-जो विद्या के अनुकूल, अपनी आत्मा की पवित्रता के अनुकूल है वह वह ग्राह्य है ।

७. जो-जो बातें ईश्वर, वेद, ऋषि, सृष्टिक्रम के अनुकूल होगी उसे आचरण में उतारने के लिए पूर्ण पुरुषार्थ-सामर्थ्य से जुट जाऊँगा। अतः यह स्वभाव बना लेना चाहिए कि मैं सदा ऐसा ही करूँगा। इससे वह कभी भी धार्मिकता को नहीं छोड़ता है।

८. गुरु, आचार्य के द्वारा बार-बार व्यवहार, सदाचार आदि की शिक्षा दिए जाने पर भी जो समर्थ विद्यार्थी आचरण में नहीं लाता तो वह बुद्धिमान्, धार्मिक, गम्भीर, मधुर भाषी, शिष्ट व्यक्ति नहीं बन सकता है। क्योंकि वह यह नहीं जानता कि उसके इस व्यवहार से गुरु-आचार्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है और वे आगे कुछ बताने की कृपा नहीं करते हैं, शिष्य को कुछ बताने की उनकी इच्छा नहीं रह जाती है। उससे विद्यार्थी की उन्नति रुक जाती है, जो कुछ सुधार के अवसर होते हैं वे भी खो जाते हैं। बुद्धिमान् सत्यग्राही व्यक्ति इस प्रकार के भयंकर परिणामों, प्रभावों को देखकर तुरन्त अपने व्यवहार को सुधार लेता है। वह स्वयं ही बिना किसी के बताए अनुशासन में चलने लगता है। साथ रहने वालों पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि अन्यों को प्रेरणा देने के लिए वह उदाहरण बन जाता है। यदि उस व्यक्ति को कोई कार्य सौंप दिया तो वह कार्य से जी नहीं चुराता है। ऐसा व्यक्ति न तो चोरी करता है, न वाणी से कठोर बोलता है।

९. ईश्वर भी प्रत्येक कार्य के पीछे संकेत करता है, यदि व्यक्ति उस संकेत के अनुकूल व्यवहार न करके उसकी उपेक्षा करता है तो वह संकेत धीरे-धीरे समझ में आना बन्द हो जाता है, भले ही ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार वह संकेत मिलता रहेगा, परन्तु आत्मसुधार का मूल खो जाता है।

१०. गुरु के जो दोष हैं उन्हे ग्रहण मत करो, छोड़ दो, उनके गुणों को ग्रहण करो। यदि दोष का ग्रहण करते हो तो गुणों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस प्रकार अपने जीवन में दोषों को दूर करने और गुणों को ग्रहण करने के लिए व्यक्ति लग जाए तो उसके पास अत्यन्त पुरुषार्थसाध्य,

तपसाध्य इतने कार्य हो जाते हैं कि उसे अन्य कोई लौकिक या व्यर्थ बात सोचने-विचारने का समय ही नहीं रहता ।

११. जो नित्य के कार्य हैं उन्हें भुला देना भयंकर दोष है । सामने वाले पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? सामने वाला मुझे लापरवाह समझेगा और मेरा किंचिन्मात्र भी विश्वास नहीं करेगा, ऐसा सोचकर सत्यग्राही व्यक्ति कांप उठता है और ऐसी भूल आगे कभी नहीं करूँगा ऐसा संकल्प करता है ।

१२. अत्रापिनोक्तं तत्र तुनोक्तमिति द्विरुक्तम् इस प्रसंग में जैसे शिष्य की बुद्धि पर गुरु को प्रशंसा करनी पड़ी ऐसी बुद्धि होनी चाहिए, तब योग मार्ग पर बढ़ सकते हैं ।

१३. जो एक बात से अनेक बातें सीख लेता है, अर्थात् एक बात बताने पर उस जैसी अन्य बातें भी ग्रहण कर लेता है वह बुद्धिमान् विद्यार्थी है । यदि कोई इस प्रकार से चले तो थोड़े काल में बहुत उपलब्धि कर सकता है । परन्तु ये सब कार्य वही शीघ्रता से करता है जिसका केवल ईश्वर-प्राप्ति करना-करवाना ही लक्ष्य हो । अन्यथा तो व्यक्ति परिणामों, प्रभावों, लाभ-हानि को न जानकर पड़ा रहता है ।

१४. प्रत्येक कार्य को करते हुए परीक्षण करो कि आर्य समाज के पांचवें नियम के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं, यह कार्य ईश्वर-प्राप्ति में सहायक है या बाधक ? यह नियम मुक्ति तक की बात बताता है ।

१५. यदि कोई हमारे गुणों को बताता है उन्हें हृदय से ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिए, क्योंकि वे गुण ईश्वर के ही हैं । इससे ईश्वर प्रसन्न होता है और अपना लेता है । अपना मानेंगे तो ईश्वर छोड़ देगा, नहीं अपनाएगा ।

१६. व्यक्ति शब्द-प्रमाण आदि से भी जो कुछ जानता है, वह भी ईश्वर की ही सहायता से जानता है, स्वयं नहीं जान सकता अर्थात् उस ज्ञान में भी अपनत्व की भावना न हो ।

★ ★ ★

व्यवहार

स्वामी जी – "विद्यासागर जी ! (वर्त्तमान में स्वामी वेदपति जी) आप बहुत से कार्य करते हैं, सेवा हेतु घोर पुरुषार्थ भी करते हैं, लेकिन आपके व्यवहार में नम्रता, प्रेम नहीं है ।"

विद्यासागर जी – "स्वामी जी ! मैंने अब तक इस प्रकार का व्यवहार न देखा, न सुना है ।"

स्वामी जी – भले ही आपने नहीं देखा-सुना है, परन्तु आपको यह सोचना है कि यही ईश्वर की इच्छा है, यह व्यवहार ईश्वर को अच्छा लगता है। मुझे ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है, ऐसा सोचने से मन में अभिमान नहीं आएगा ।

१. दूसरों के दोषों को देखने में बल मत लगाओ । उनके गुणों को देखो और उनको ग्रहण करने में बल लगाओ । जिस प्रकार का व्यवहार मन से करेंगे वैसे ही संस्कार, प्रवृत्तियाँ होंगी । यदि दोष दिखाई दें तो उनकी ओर ध्यान ही न देना ।

२. सभी ईश्वर के पुत्र हैं, ईश्वर की दृष्टि में सब समान हैं, ईश्वर सभी का समान रूप से हित चाहता है। ऐसे जब ईश्वर के समान सर्वहितकारी दृष्टि बनायेंगे तो प्रेम की लहर उठेगी, सब के हित में अपना हित चाहेंगे। आप सोचेंगे कि दूसरे में दोष हैं वे मेरे दोष हैं तो उसे सुधारने का प्रयास करेंगे, सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझेंगे। वास्तव में समाज, राष्ट्र के जो भी दोष हैं वह हमारे ही हैं इसलिए हमें अपनी उन्नति के साथ समाज, राष्ट्र, विश्व की भी उन्नति करनी है । ऐसे विशाल दृष्टिकोण से सोचने, विचारने वाला कभी भी किसी से बुरा व्यवहार नहीं करता ।

३. कार्य को करते समय कार्य में प्रयुक्त होने वाले साधन, कार्य को किस क्रम से करना है, इन सभी का अच्छी प्रकार से ज्ञान कर लेना चाहिए। उसमें भी क्या मुख्य है, क्या गौण है का निर्धारण भी अच्छी प्रकार से कर लेना चाहिए क्योंकि इन सभी का उपासना पर प्रभाव पड़ता है। जैसे– उपासना में ईश्वर का ध्यान करना था परन्तु व्यक्ति अन्य लौकिक वृत्तियों

को मुख्य मानकर उनका ही ध्यान करना शुरु कर देता है। ऐसे ही सेवा करते समय रोगी की स्थिति, आवश्यकता को देखकर साधन-सुविधाएँ उपलब्ध रखने चाहिए अन्यथा ऐसा न होने से रोगी की हानि हो जाएगी और कार्यकर्त्ता बुद्धिमान् नहीं कहलाएगा।

४. जीवात्मा के ऐसे बहुत से पूर्व के किए हुए निर्णय होते हैं जिनको वह ठुकरा देता है और पश्चात् पछताता भी है, आध्यात्मिक स्तर में भी न्यूनता आती है, बहुधा गलत निर्णय कर लेता है, इनसे यह बात सिद्ध होती है कि जीव अल्पज्ञ है। इसलिए अपनी बात जो ईश्वर, वेद और ऋषियों के विरुद्ध है उसे ठुकरा देना चाहिए अन्यथा अविद्या से नहीं निकल पाएँगे।

५. यदि आपको किसी एक व्यक्ति से भी भय रहा तो अहिंसा आदि का पालन नहीं कर सकते। अहिंसा के पालक की तो यह भावना रहती है कि कैसे सामने वाला मुझसे प्रेम करने लग जाए, कैसे सभी मेरे मित्र बन जाएँ, कोई भी शत्रु न रहे। वह सामने वाले को भी अच्छा व्यक्ति बनाकर देखना चाहता है जैसे माँ अपने पुत्र के प्रति प्रेम करती, हित चाहती है। उसका वाणी का व्यवहार भी कितना शुद्ध, निर्मल, कोमल, सत्य होता है। सामने वाला यदि झूठा आरोप भी लगाए तो भी कहना "कोई बात नहीं," समय आने पर समझ जाएगा। यदि वह दोष लोगों में साबित भी नहीं हुआ तो अहिंसा पालक सोचता है कि कहीं उस व्यक्ति को दुःख तो नहीं हुआ कि उसका आरोप साबित नहीं हुआ। इतनी सूक्ष्मता से गहराई से, वह सोचता है, ऐसा व्यक्ति ही योग मार्ग पर टिक सकता है।

६. अविद्या से युक्त रहना महा-पाप है, क्योंकि उससे ईश्वर की आज्ञा भंग होती है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। और विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान की प्राप्ति परम धर्म है।

७. जब व्यक्ति अन्यों के साथ आत्मवत् व्यवहार नहीं करता है तो वह अन्यों को दुःखी करता है। इसका अर्थ यह भी है कि वह अपने साथ भी उचित व्यवहार नहीं करता, इसलिए स्वयं भी दुःखी रहता है।

८. यदि व्यक्ति बार-बार बताए जाने पर भी नहीं समझता, फिर-फिर वही त्रुटि, दोष करता है तो इसका अर्थ है, उसका सुनाने वाले में विश्वास नहीं है, श्रवण-मनन-निदिध्यासन ठीक से नहीं करता है। और वह उस विपरीत व्यवहार से होने वाले परिणामों को नहीं जानता। जो व्यक्ति इन बातों को ध्यान में रखकर नहीं चलता वह पुनः पुनः वही भूल दोहराएगा।

९. जिज्ञासु और प्रारम्भिक योगाभ्यासी को अपना पक्ष रखकर गुरुजनों से वाद-वितण्डा नहीं करना चाहिए।

१०. योगाभ्यासी को या तो किसी योग्य सत्यनिष्ठ महापुरुष के सान्निध्य में रहकर सीखना चाहिए अथवा उनके अभाव में स्वयं वेदादि शास्त्रों का आधार लेकर चलना चाहिए अन्यथा आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाएगा। अपना तन-मन-धन इसी प्रकार लगा देना चाहिए, फिर भी यदि कमी रह जाए तो उतना दोष नहीं होगा।

उदाहरण : एक बार गुरुकुल में दो विद्यार्थियों में विवाद हो गया—एक ने कहा कि मैंने वहाँ पर भेड़िया देखा था, दूसरे ने कहा कि नहीं वह भेड़िया नहीं, लक्कड़बघ्घा था। तब पहले विद्यार्थी ने कहा कि मुझे तो मनुदेव जी(स्वामी जी का तत्कालीन नाम) ने बताया है। तब दूसरे विद्यार्थी ने तुरन्त मान लिया, अच्छा तब तो ठीक है। इस प्रकार का आदर्श होना चाहिए (जिस पर दूसरे को विश्वास होवे)।

११. मानसिक स्तर पर तनाव रखना यह योग में बाधक ही है, ऐसा व्यक्ति साधक कभी नहीं बन सकता। इससे केवल हानि ही होगी इसलिए पूर्ण पुरुषार्थ से छोड़ ही देना चाहिए। क्योंकि जैसा व्यक्ति का लक्ष्य होता है वैसे ही क्रिया-कलाप, उपाय, साधन जुटाने चाहिएँ अन्यथा लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।

१२. हमने गुरुकुल में अध्ययन काल में ऐसे कई प्रयोग किये जैसे सभी से मीठा बोलना, छोटों को भी 'जी' कहकर बुलाना, किसी से कभी मानसिक तनाव नहीं रखना। लोग मेरी हँसी उड़ाते थे, अपमान करते

थे, फिर भी किसी से प्रतिकार की भावना नहीं रखता था। इसलिए आप को यदि योगी बनना हो तो इस प्रकार का व्यवहार आचरण में लाना पड़ेगा।

१३. **प्रश्न :** स्वामी जी ! आपने योग के विषय में इतना सिखाया-बताया, सारा परिश्रम किया, फिर भी कोई ईश्वर-साक्षात्कार तक नहीं पहुँच पाया, इसका क्या कारण रहा ?

उत्तर – इसमें पूर्व जन्मों के तीव्र संस्कार, विवेक-वैराग्य आदि का न होना आदि, इस प्रकार के अनेक कारण होते हैं। उनमें एक कारण होता है गुरु जी की जो-जो बातें अपने अनुरूप ठीक लगीं वह वह तो मान ली। शेष जिनमें विरोध, मतभेद दिखाई दिया वह बात काट दी और अपनी बात मान ली। इस कारण से आगे नहीं बढ़ पाता।

१४. गुरु जी ने २० बातें बताई। उनमें से २-४ बातें अपनी बुद्धि के अनुसार न होने से नहीं मानी तो आपकी समाधि में बाधा आ जाएगी अतः गुरु जी जैसा कहें वैसा मान लेना चाहिए।

१५. जब व्यक्ति निष्काम भावना से सेवा करता है तो अनान्दित रहता है। जब सकाम भावना से सेवा करता है तो दुःखी रहता है। क्योंकि वह धन, मान-सम्मान आदि की इच्छा रखता है।

१६. अत्यन्त विपरीत व्यवहार वाला व्यक्ति भी यदि साथ रहता हो तो उसे भी अपने व्यवहार से अपना बनाया जा सकता है। उसके अनुकूल ऐसा आचरण करे कि उसके मन में यह भावना उत्पन्न हो जाए कि मैं इसी के साथ रहना चाहता हूँ।

१७. मन-वचन-कर्म से व्यक्ति का आचरण, व्यवहार कितना शुद्ध, स्पष्ट, सत्य, कोमल होना चाहिए यह व्यक्ति को प्रायः नहीं सिखाया जाता है और यदि सिखाया भी जाता है तो व्यक्ति सीखना नहीं चाहता है। इस स्थिति में योगी बनने, ईश्वर-प्राप्ति करने की आशा छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि यदि यह व्यवहार ही ठीक नहीं है तो यम-नियमों का पालन नहीं होगा। व्यवहार पर ही सारा जीवन आधारित है। इसलिए ऋषि ने व्यवहार-परक और मोक्ष-प्राप्ति विषय को वेद-भाष्य में लिया। जो व्यक्ति ऋषि

पर श्रद्धा रखता हो तो व्यवहार-भानु में सरल भाषा में जितनी ऊँची बातें लिखी हैं, उनसे अत्यन्त प्रभावित होगा ।

व्यक्ति प्रायः इस मनोविज्ञान को नहीं जानता कि जो भी हम व्यवहार करते हैं, उसका हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है । मन में वही बातें चक्कर काटती हैं, वैसा ही व्यवहार बन जाता है । ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को योग-मार्ग से दूर ले जाती हैं । ऐसी अपरिपक्व स्थिति में व्यक्ति यदि सत्पुरुषों के सत्संग से दूर होता है तो फिर उसका सारा व्यवहार बिगड़ जाता है। रूठना, नाराज होना, ऐंठ में रहना, कठोर बोलना, अभिमान करना आदि ये सभी योग के बाधक तत्व हैं । योग-जिज्ञासु जिसकी योग में तीव्र लगन है वह अपने लक्ष्य के बाधकों को छोड़ता जाता है और साधकों को पकड़ता जाता है । जैसे दयानन्द जी की योग में तीव्र लगन थी तो सारे पहाड़ खोद मारे । जो भी साधु-सन्त मिलता, उससे नम्रतापूर्वक नमस्ते करके उनकी बात ध्यान से, श्रद्धा से सुनते जाते । जो-जो बात विचारने पर ठीक दिखती उसे तुरन्त ग्रहण करते, विपरीत को छोड़ देते थे ।

१८. व्यवहार में जब व्यक्ति से कोई त्रुटि होती है तो वह दुःखी हो जाता है । यह उचित नहीं है, अपितु ऐसा प्रयास करना चाहिए कि आगे से यह त्रुटि नहीं होने देनी है।

१९. कोई व्यक्ति अपमान करता है तो वर्तमान में तो विकारों को रोक लेते हैं, परन्तु वही व्यक्ति जब पुनः मिलता है तो उसके प्रति पुनः द्वेष उत्पन्न हो जाता है कि यह व्यक्ति अच्छा नहीं है, इसमें कारण यह है कि वर्तमान में जो विकारों को रोकते हैं उसमें वर्तमान के अच्छे संस्कार हैं परन्तु पूर्वजन्मों के जो बुरे संस्कार हैं उनके कारण पुनः विकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

२०. सेवा करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि इसमें कोई लौकिक फल की इच्छा नहीं कर रहा हूँ । अन्यथा वह कर्म सकाम हो जाएगा और उससे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होगी ।

२१. प्रत्येक कार्य ईश्वर-प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए । इसके लिए शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना करनी चाहिए ।

२२. जो व्यक्ति ईश्वरोपासना और व्यवहार में यम-नियमों का पालन नहीं करता वह मानसिक स्तर पर दुःखी रहता है।

२३. योग-दर्शन में बताया है कि चार प्रकार के लोग होते हैं सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा। जो व्यक्ति इनके साथ क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का व्यवहार करता है वह दुःखी नहीं होता है।

२४. प्रायः व्यक्ति इस बात से दुःखी रहता है कि सामने वाला ऐसा क्यों कर रहा है ? मैं अधिक कार्य कर रहा हूँ, वह आराम से बैठा है। इस प्रकार विचारता हुआ अपने द्वेष को बढ़ाता जाता है और ईश्वर-प्राप्ति से दूर होता जाता है।

२५. जो व्यक्ति ऐसा सोचता है कि "मैं कहीं भी जिनके भी साथ रह रहा हूँ, उन सभी को तन-मन-धन से सुख ही दूँगा, दुःख कदापि नही दूँगा" चाहे मुझे स्वयं दुःख उठाना पड़े। वही महापुरुष बन सकता है।

२६. यदि व्यक्ति सूक्ष्मता से यमनियमों का पालन नहीं करता तो वह प्रायः अतिशयोक्ति करता है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही कहना चाहिए।

२७. जब व्यक्ति बाह्य वृत्तियुक्त होकर इधर-उधर की बातें, व्यवहार करता है, तब वह विद्या, धर्म, ईश्वर से कोसों दूर चला जाता है अर्थात् मानसिक स्तर पर पतित हो जाता है।

२८. ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन पदार्थ मूल में अनादि हैं। इस निर्मित सृष्टि का आदि मूल निमित्त कारण ईश्वर है, ऐसा जानने से व्यक्ति का सारा अभिमान और स्वस्वामि-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। वह केवल ईश्वर से ही प्रेम करता है, न झगड़ा करता है न होने देता है।

२९. लौकिक दृष्टि से व्यवहार करना विवेक-वैराग्य में बाधक है। विवेक-वैराग्य की प्राप्ति, उसकी रक्षा के लिए अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है। पुरुषार्थ के चार भेद हैं – अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित

की वृद्धि और बढ़े हुए को धर्म-कार्यों में लगाना । इस प्रकार परिश्रम करने वाले को तो लौकिक रूप में विचारने का समय ही नहीं रहता ।

३०. आप ऐसा नहीं समझें कि मैं कठोर बोलता हूँ, अच्छा व्यवहार नहीं करता हूँ, यह तो मेरा स्वभाव है, इसे मैं छोड़ नहीं सकता । वस्तुतः ऐसा नहीं है, जब आपका कोई प्रिय मित्र आ जाता है तो उसके साथ आप प्रिय, मीठा कैसे बोल लेते हैं ? बस यही व्यवहार अन्य सभी के साथ करें ।

३१. महाभारत में बताया है कि व्यक्ति दिन-रात अर्थ कमाने में जितना कष्ट सहता है, उसका यदि कुछ भाग भी मोक्षप्राप्ति में लगा दे तो मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ।

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनाऽपि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥

अर्थ - अर्थी =धन को चाहने वाला धन कमाने में जितना कष्ट सहता है, उसका सौवाँ अंश भी यदि मोक्ष के लिए सह ले तो मोक्ष अवश्य ही हो जाये ।

३२. अभी भी मैं जब तक ईश्वरोपासना में रहता हूँ तब तक तो रोग कुछ सीमा तक दब जाता है, बाधित नहीं करता। ईश्वर की उपासना एक क्षण भी छोड़ने पर दुःख छू जाता है ।

३३. असावधानी के कारण, पुराने अदग्धबीज क्लेशों के कारण, तमोगुणावस्था में बने नए-नए संस्कारों के कारण व्यक्ति ईश्वर को छोड़ देता है और अविद्या में चला जाता है ।

३४. प्रत्येक जीव अल्पज्ञ है, प्रत्येक से गलतियाँ होती हैं इसलिए कोई गलती करे तो क्षुब्ध, दुःखी नहीं होना चाहिए । जो गलती सामने वाला करता है वह हम भी तो कर सकते हैं ।

३५. यदि सामने वाला प्रतिकूल व्यवहार करता है तो सामने वाला स्वतन्त्र है। संसार का ऐसा ही स्वभाव है, ऐसा जानकर दुःखी नहीं होना।

३६. जितना व्यक्ति में शक्ति, सामर्थ्य है, उतना ही कार्य करे। फिर भी यदि कोई कमी रहे, कार्य बिगड़े तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह हमारे हाथ में ही नहीं है। मूल में तो हमारी शक्ति, ज्ञान, बल कुछ भी नहीं है, न प्रकृति का है। सभी कुछ ईश्वर का ही है। प्रकृति का एक-एक परमाणु, जीवात्मा ईश्वर का है तो चिन्ता किस बात की है? अपना तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। इस प्रकार सभी समस्याओं का समाधान करते रहना चाहिए कि संसार तो ऐसे ही चलता रहेगा, विरोध होगा, अन्याय होगा, अतः चिन्ता नहीं करनी है।

३७. सामने वाला व्यक्ति मेरे साथ पूरी तरह उचित व्यवहार करे ही, मेरे मन में क्या है यह जान ले, हमको पूरी तरह समझ जाए, ऐसा असम्भव है, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है। किसी को पूरी तरह जानना असम्भव है अतः उसकी वाणी और शरीर के व्यवहार तथा उन पर आधारित मानसिकता को कुछ सीमा तक जान सकता है। इसलिए जब वह पूरी तरह जान ही नहीं सकता तो विपरीत व्यवहार तो करेगा ही, फिर क्यों ऐसी आशा रखें कि सामने वाला मेरे साथ केवल उचित व्यवहार ही करे।

३८. सभी झगड़े, तनाव का मूल कारण है कि व्यक्ति स्वयं को सबसे बड़ा मानता है और अन्यों को छोटा मानता है। इसके रहते संगठन, प्रेम, मित्रता नहीं हो सकती।

३९. जो भी कार्य करो वह मन-मस्तिष्क में ईश्वर को उपस्थित रखते हुए करो। जो कुछ शक्ति, सामर्थ्य है वह ईश्वर का है। सभी कार्य ईश्वर के मानकर चलो। इससे अभिमान नहीं होगा। व्यक्ति स्वयं को बड़ा मानता है जबकि सभी जीवात्मा और प्रकृति अपने सामर्थ्य, ज्ञान, बल की दृष्टि से कुछ भी तो नहीं कर सकते। जो इस सिद्धान्त को नहीं जानता वह समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि यह झूठा व्यवहार है कि ईश्वर की वस्तु को अपनी कहना।

४०. अपने दोषों से प्यार मत करो। जब पता चले कि यह दोष है चाहे असावधानी से हो या अज्ञान से। उसे झट स्वीकार करो और

आगे के लिए सावधान हो जाओ । दोष सिद्ध होने पर उसके अत्यन्त शत्रु बन जाओ कि इसे हटाना ही है, तब दोष दूर होंगे, यह सुधरने की शैली है ।

४१. उपासना काल में शरीर से सम्बन्ध तोड़कर सीधा ईश्वर से सम्पर्क जोड़ना चाहिए, इससे प्राकृतिक सत्त्वगुण का सुख मिलने पर भी उसकी ओर से ध्यान हटकर ईश्वर से मिलने वाले नितान्त दुःखरहित सुख लगेगा। क्योंकि वही एक ऐसा आलम्बन है कि जिसके आश्रय से व्यक्ति दुःखों से छूट सकता है ।

४२. जैसे कोई दो व्यक्ति जो कार चलाने में अनभिज्ञ हैं । वे एक दूसरे को कार चलाने का प्रशिक्षण नहीं देते हैं। यदि देते हैं तो यह व्यवहार ठीक नहीं, क्योंकि दे नहीं पाएँगे । अतः जब उनमें से एक कार चलाने में परिपक्व हो जाता है तब वह दूसरे को प्रशिक्षण दे सकता है, यही ठीक व्यवहार होता है, ऐसे ही, प्रत्येक कार्य में, पहले अपनी स्थिति परिपक्व हो जाए तब अन्यों को प्रशिक्षण देने का प्रयास करना चाहिए, अपनी न्यूनता या हानि करके नहीं। जैसे-जैसे जितनी-जितनी योग्यता बनती जाए उतनी-उतनी अपनी स्थिति को बनाए रखते हुए प्रशिक्षण देते जाए ।

४३. मन-वाणी-शरीर पर संयम रखने वाला लाखों, करोड़ों में कोई एक मिलना भी कठिन है । प्रायः व्यक्ति संयम का उल्लंघन कर देता है । यदि व्यक्ति अपने जीवन पर आत्मनिरीक्षण का अंकुश लगाए तो बुराईयों से बचकर गुणों को ग्रहण कर सकता है ।

४४. यदि व्यक्ति वास्तविक रूप में आत्मनिरीक्षण करे तो इस प्रकार से अपने जीवन पर अंकुश लगा देता है कि – जो बुरा कार्य आज तक किया उसे आगे किसी भी स्थिति में नहीं करेगा और जो अच्छा कार्य छूट गया है, उसे आगे नहीं छोड़ेगा, वह चाहे निष्काम-कर्म हो, ज्ञान-प्राप्ति हो वा उपासना हो ।

४५. प्रत्येक वस्तु को उसके कारणरूप में देखने के लिए नाम और रूप को मिटाना पड़ता है। जैसे नाम = देवदत्त, रूप = देवदत्त का शरीर,

तीनों कालों में यह नाम और रूप नहीं रहेगा । प्रथम अवस्था में आप्तों के वचन, वेद आदि शब्द-प्रमाण के आधार पर सृष्टि को प्रलय में ले जाना पड़ता है ।

४६. जब हम गुरुकुल में पढ़ते थे तब कभी आचार्य जी अत्यन्त क्रुद्ध हो जाया करते थे तथा अन्य लोग भी दुर्व्यवहार करते थे, फिर भी ईश्वर-प्राप्ति के लिए तपस्या मानकर सब सहन किया । विरोध, प्रतिकार की भावना नहीं रखी । इस स्थिति में भी गुरुकुल में यदि किसी व्यक्ति को अच्छी सुविधाएँ प्राप्त होती थी तो मुझे बड़ा आनन्द आता था ।

४७. स्वयं को अन्य जीवों से पृथक् एक स्वतन्त्र जीव के रूप में देखना चाहिये और संसार से अनित्य सम्बन्ध समझना चाहिए । संसार में जो भी सम्बन्ध हैं वे सभी शरीर के कारण हैं और यह शरीर बदलता रहेगा, इस कारण से जो सम्बन्ध हैं वे भी बदलते रहेंगे । इसलिए मूल में किसी भी जीव का अन्य किसी भी जीव से कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है । किन्तु सभी ईश्वर के पुत्र होने से भाई-भाई हैं ।

इस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ अपना सम्बन्ध देखना चाहिए कि अमुक-अमुक व्यक्ति व वस्तु के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, कितना है और कब तक रहेगा ? इस प्रकार जानने से यह निश्चित होगा कि वास्तव में किसी का किसी के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है, सभी मुझसे पृथक् हैं । इससे किसी से भी राग-द्वेष नहीं होगा । इन शरीरादि साधनों से हमारा जो भी सम्बन्ध बना है वह भी ईश्वर के द्वारा ही बनाया हुआ है । अतः सब कुछ ईश्वर का ही है, मेरा कुछ भी नहीं है ।

४८. जब तक संसार की एक भी वस्तु में मन अटका हुआ है, आकर्षण है, तब तक योग के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते हैं ।

४९. यदि एक भी व्यक्ति से राग-द्वेष शेष रह गया अथवा किसी पर एक बार क्रोध कर लिया, वही योग में बाधक बन जाएगा । जीवन भर उसे छोड़ना कठिन हो जाएगा, इसलिए ऐसा नहीं करना चाहिए ।

५०. गुणों को ग्रहण करने का एक उपाय यह भी है कि वेद, ईश्वर, सृष्टिक्रम, ऋषि आदि जो पांच कसौटियाँ हैं उनके अनुसार जो विहित,

अर्थात् जो करना है वह करे और जो अविहित, अर्थात् जो नहीं करना है, उसे न करे ।

५१. जब व्यक्ति इस प्रकार अन्तर्यामी व्यापक ईश्वर के कर्मों को देखता-जानता हुआ यह निश्चित कर लेता है कि ईश्वर प्रत्येक अच्छे-बुरे कर्मों का फल देगा ही, तो व्यक्ति अत्यन्त पुरुषार्थ से मन-वचन-कर्म से होने वाले बुरे कार्यों को छोड़ देता है ।

५२. जब व्यक्ति को यह समझ में आ जाता है कि यदि मैंने ईश्वर-प्रदत्त मन-वाणी-शरीर आदि साधनों का उचित उपयोग नहीं किया तो उसका दण्ड मिलेगा तब वह सारा पुरुषार्थ इसी के सुधार में लगा देता है । जैसे कि हमने जोर से हाथ घुमाया तो हाथ में चोट आ गई तो इसका दण्ड मिलेगा । भोजन अधिक अथवा प्रतिकूल किया तो पेट खराब हो गया, उसका दण्ड मिलेगा । ऐसे ही मन-इन्द्रियों पर असंयम करना, ईश्वर की उपासना न करना, यम नियमों का पालन न करने से भयंकर दण्ड मिलेगा ।

५३. मुझे १२ खड़ी सीखने के पश्चात् सत्यार्थ प्रकाश मिला तो उसमें इतनी श्रद्धा थी कि एक-एक पंक्ति को पत्थर की लकीर समझकर वैसा ही आचरण करता था और उसके विरुद्ध आचरण को मन-वचन-कर्म से छोड़ देता था ।

५४. जब इच्छा हो तभी खा लेना, खड़े-खड़े खाना ये सभी दोष हैं । इससे समाज पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है और चोरी आदि की भी आदत बनती है, जैसे की कोई अच्छी मिठाई दिख गई तभी खाने की इच्छा हो जाएगी और नहीं मिली तो जैसे-तैसे उसे ले लेने का प्रयत्न करेंगे ।

५५. हम अनेक वर्ष तक गुरुकुल में रहे परन्तु कभी किसी के प्रति मानसिक तनाव उत्पन्न नहीं होने दिया, वाणी से तू-तू, मैं-मैं की स्थिति नहीं आई, शरीर से लड़ाई-झगड़ा नहीं किया । ऐसा व्यक्ति सोचता है कि सारे झगड़ों का मूल कारण तो अपने को बड़ा मानना तथा वस्तुओं पर अपना स्वामित्व जमाना है । जबकि मैं ही नहीं रहूंगा और सामने वाला भी नहीं रहेगा तो क्या बड़प्पन, क्या स्वस्वामि-सम्बन्ध ?

५६. एक बार जब बता दिया कि यह काम ऐसे करो अन्यथा हानि हो जाएगी, फिर भी वैसा न करना प्रमाद है। प्रमाद के कारण प्रायः भूल होती है। यद्यपि कोई भूल नहीं होगी यह तो असम्भव है क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है, किन्तु व्यक्ति अत्यन्त सावधान रहे तो कम भूलें होंगी। आर्याभिविनय में लिखा है कि मुझसे कोई भूल न हो, कोई इच्छा भी न हो पाप-कर्म की। इसका भी अभिप्राय यही है कि बुद्धिपूर्वक कोई भूल न हो। ईश्वर की तरह कभी भूल नहीं होगी, ऐसा नहीं है।

५७. यदि कोई व्यक्ति आपका दोष बताए तो स्वयं को उसका उपकार मानना चाहिए। क्योंकि उसके बताने पर यदि वह दोष पकड़ में आ गया तो हम उसे दूर कर सकते हैं, इससे हमारा सुधार होगा। यदि दोष नहीं भी है तो भी उसे सहन कर लो कि कोई बात नहीं गलती हो गई है। यदि सामने वाला सुनना चाहता है तो उसे प्रेम से बता सकते हैं कि यह दोष मैंने नहीं किया है, आपको परीक्षण करने में कुछ भूल हुई है।

५८. दोष बताने के लिए भी दोष का ठीक से परीक्षण कर, मधुर, सत्य हितकारी रूप में बताना चाहिए।

५९. ईश्वर में रुचि बढ़ाने के लिए सभी वस्तुओं से अपना स्व-स्वामि-सम्बन्ध हटाना पड़ेगा क्योंकि हम जीवों का ज्ञान, बल न के बराबर है। केवल ईश्वर प्रदत्त साधनों से ही कुछ कर सकते हैं।

६०. जब तक अत्यन्त पुरुषार्थ से ग्रहण करने योग्य का ग्रहण और छोड़ने योग्य को छोड़ नहीं देते हैं, तब तक योग में प्रवेश नहीं कर सकते। जैसे जब तक एक व्यक्ति से भी द्वेष कर रहे हैं तब तक योग में प्रवेश नहीं कर सकते।

६१. अपने शरीर, मन को नियंत्रित करके सभी ओर देख कर चलना। इससे व्यक्ति बड़ी-बड़ी दुर्घटनाओं से बच सकता है। यही **दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्** का अर्थ है।

६२. ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलने वाले का व्यवहार तो विलक्षण ही होता है। उसके लिए जैसा पुरुषार्थ करना चाहिए वैसा आप नहीं कर

रहे हैं । आप इन सामान्य व्यक्तियों को आदर्श मानकर मत चलें अन्यथा अपने मार्ग से ही हट जाएँगे । इसके लिए निम्न रूप से चलें तब तो इस मार्ग पर स्थिर होकर कुछ उन्नति कर सकते हैं–

(१) ईश्वर को आदर्श मानकर चलें, उसी को सर्वस्व मानें, उसी की आज्ञा पालन में सारा पुरुषार्थ हो ।

(२) जो करोड़ों ऋषियों का अनुकरण करने वाले हैं उनको आदर्श मानें ।

६३. **हेयं दुखमनागतम्** इसको समझना, आचरण में लाना अत्यन्त पुरुषार्थ साध्य है । यह सूत्र मुक्ति तक की बात कहता है । मुक्ति की प्राप्ति के जो भी बाधक हैं उनको ग्रहण करना मुक्ति की अप्राप्ति से होने वाले दुःख का कारण है अर्थात् जब तक शरीर में रहेंगे, सांसारिक भोगेच्छा है तब तक दुःख से नहीं बच सकते । इसलिए इन दुःखों से छूटने का उपाय मोक्ष है । वर्तमान में यदि मुक्ति के बाधक संस्कार बनाएँगे तो उसका परिणाम, फल विभिन्न योनियों में दुःख भोगना पड़ेगा और इस जन्म में भी । इसलिए **हेयं दुःखमनागतम्** अर्थात् आने वाले दुःख से बचा जा सकता है; इस सूत्र को दृष्टि में रखते हुए चलो । जहाँ तक हो सके संसार में फंसना जिससे हो, उसे छोड़ दो ।

६५. गुरु, आचार्य के बार-बार बताए जाने पर यदि शिष्य पुनः पुनः वही त्रुटि करता है तो गुरु-आचार्य पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है । तथा इस प्रकार बार-बार त्रुटि होने के कई कारण होते हैं, जैसे–

१. सुनने वाले को बताने वाले के प्रति श्रद्धा-विश्वास, सम्मान का भाव न होना । वक्ता सत्य कह रहा है, ऐसा नहीं मानना अथवा वक्ता के कथन को सामान्य मानकर छोड़ देता है उसकी परवाह नहीं करता है ।

२. मन में सुनने और बताने वाले के प्रति विश्वासपात्र बनने की भी भावना न होना ।

३. वह वक्ता के कथन को अपनी अनुभूति के साथ नहीं जोड़ता ।

४. इसके लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार, जो ये चार कर्म करने होते हैं, इन्हें ठीक ढंग से नहीं किया जाना।

४. जब श्रवण ही ठीक नहीं है तो मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार की बात तो दूर रही।

६६. जब व्यक्ति केवल अपनी ही बात को मानता है कि यही ठीक है, यह चाहे वेद, ईश्वर, ऋषियों के विरुद्ध है, तो यह हठता और अभिमान रूप मानसिकता है, इसे छोड़ देना चाहिए।

६७. जब तक व्यक्ति पढ़ाने वाले अथवा उपदेशक की शैली नहीं जानता कि वह कैसे बोलता, लिखता, व्यवहार करता है तब तक उसकी बात को पूरी तरह नहीं समझ सकता। ऐसे में वह अपनी शैली से चलेगा। उसके अनुकूल व्यवहार नहीं करेगा। इससे सामने वाले की हानि भी हो सकती है।

६८. आप में अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए जो तड़प, जो आग विशेष होनी चाहिए वह यदि कम है तो व्यक्ति आदर्श बन जाएँ ऐसा सम्भव नहीं। स्वयं को योगी बनाने के लिए, अपने शरीर को बलवान्, सुदृढ़, दीर्घायु बनाने के लिए और निष्काम भावना से परोपकार करने लिए ज्ञान और संस्कारों की आग, तड़प पैदा करो, तभी कुछ कर सकते हैं। वह तड़प यह है कि "अभी तो जीवन है, सांस चल रही है, जो कुछ करना है अभी कर लो, आगे जीवन रहे या न रहे।"

६९. व्यक्ति रजोगुण व तमोगुण से प्रभावित होकर दोष, अनिष्ट कार्य जानता हुआ भी कर लेता है। नियम, अनुशासन में नहीं चलता, इससे यह हानि होती है कि वह अधिकारी लोगों का विश्वासपात्र नहीं बनता, उसका छोटी सी बात में भी विश्वास नहीं होता। उससे और बड़ी-बड़ी हानि होने की सम्भावना रह जाती है, जैसे जिसका कोई विश्वास नहीं करता वह जीते-जी मरा समझा जाता है। इसके अतिरिक्त वह अनुशासन से होने वाले गुणों और अनुसाशन-विहीनता से होने वाली

हानि को नहीं जानता और विवेक-वैराग्य, योगी बनने, समाधि लगाने से बहुत दूर चला जाता है।

७०. यदि कोई सामने दोष बता रहा हो और वह दोष भी ठीक है तो उसे तत्काल स्वीकार कर लेना चाहिए और दोष बताने के लिए सामने वाले का धन्यवाद और कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। उस दोष को आगे न करने का प्रयास भी करना चाहिए।

७१. बताने वाला चाहे दोष दिखाने की दृष्टि से, कठोर भाषा में कह रहा हो तो भी कोई बात नहीं। मुख्य है जो दोष बताया गया है, उसे दूर करना है। बताने वाले को भी ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि सामने वाला पुनः दोष नहीं करेगा, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है, पुनः कर सकता है। इतना सब कुछ होने पर भी पूर्ण पुरुषार्थ से दोष दूर करना चाहिए।

७२. साथ रहने वाला व्यक्ति यदि अच्छा कार्य करता है, फिर भी उससे दुःखी, अप्रसन्न रहना बिगड़ने का सबसे बड़ा कारण है। अथवा वह बिगड़ा हुआ व्यक्ति है। योगदर्शन में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा यह चार प्रकार का व्यवहार सम्बन्धित लोगों से करना चाहिए। किसी के साथ उपेक्षा करने के पीछे मानसिक स्तर पर बहुत बड़ा भाग राग-द्वेष का होता है, वह नहीं होना चाहिए अपितु कल्याण की भावना होनी चाहिए।

७३. सामने वाला यदि दोष करता है तो हम क्यों दुःखी हों। यदि दुःखी होंगे तो हम भी दोषी हैं क्योंकि इससे अहिंसादि का पालन नहीं होगा। सामने वाले के दोष का फल ईश्वर अथवा अन्य कोई दे देगा, हमें उसमें नहीं फंसना। यह कैसी मूर्खाता है कि गलती कोई करे और दुःखी हम हो जाएँ। ये तो ऐसी बात हुई कि हम उसके नियन्त्रण में कठपुतली की तरह है जैसा सामने वाला करवाना चाहेगा, हम वैसी ही करने लगेंगे।

७४. साथी जितना अधिक विरुद्ध स्वभाव वाला होगा उतना ही मेरा अधिक कल्याण होगा, ऐसा योगाभ्यासी सोचता है। क्योंकि जितना प्रतिकूल स्वभाव होगा उतनी ही मेरी सहन-शक्ति बढ़ेगी। वर्तमान में वह व्यवहार

भले ही विष के तुल्य दिखता हो परन्तु उसके दूरगामी परिणाम अमृत के तुल्य होंगे। इसके अतिरिक्त सामने वाले के प्रतिकूल व्यवहार से न तो हमारी आत्मा की हानि होगी और न ही शरीर की ।

७६. वास्तव में व्यक्ति दुःखी तब होता है जब ऐसा समझता है कि मैं ठीक कर रहा हूँ और सामने वाला गलत कर रहा है । यह व्यक्ति की अभिमान की स्थिति है जिसके भंग होने पर व्यक्ति को कष्ट, दुःख होता है ।

७७. व्यवहार करते हुए मन में ऐसी भावना रहे कि मेरे कारण शारीरिक और मानसिक रूप में भी किसी को अन्याय पूर्वक कोई कष्ट, बाधा तो नहीं होगी ? भले ही मुझे कष्ट हो जाए । इस स्तर का ही व्यक्ति ऊँचे स्तर पर यम-नियमों का पालन कर सकता है । अन्यथा व्यक्ति को पता ही नहीं रहता कि किस प्रकार मैं हिंसादि दोष कर रहा हूँ । किसी व्यक्ति को हमारे विषय में यह न सोचना पड़े कि यह व्यक्ति अच्छा नहीं है, ऐसा सोच-विचार कर चलने वाला व्यक्ति ही सार्वभौम रूप में यम-नियमों का पालन कर सकता है ।

७८. व्यवहार काल में अपने व्यवहार को प्रामाणित करके चलो कि मेरा व्यवहार धर्म, विद्या, ईश्वर-प्राप्ति में सहायक है या नहीं ? स्वैच्छिक व्यवहार करना, बिना पूछे कार्य करना, यह सब अनुशासनहीनता है। इससे योग में उन्नति नहीं होगी । ईश्वर को सम्मुख रखकर उसके अनुशासन में चलो । ऐसे ही मन को भी अनुसाशन में बांधकर चलो तब ही योग में उन्नति हो सकती है ।

७९. यदि सामने वाला झूठा आरोप लगाता है तो धैर्यपूर्वक सुनकर सहन कर लो । प्रारम्भिक योगाभ्यासी को उसमें कोई उत्तर प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए । सामने वाला स्वतन्त्र है । यदि वह दोष अपने में दिखता है तो उसे दूर कर लें । यदि दोष नहीं है तो कोई बात नहीं, सामने वाला दोष कर रहा है । यदि हम स्पष्टीकरण करने लगे तो हमारा भी दोष प्रारम्भ हो जाएगा ।

८०. यदि साथ रहने वाले व्यक्ति के प्रतिकूल व्यवहार से आप दुःखी हो जाते हैं तो अभी तप में कमी है । इससे अहिंसादि व्रतों का पालन नहीं हो सकता और उसके बिना योगी बनना, ईश्वर की प्राप्ति करना सम्भव नहीं होगा ।

८१. दोष बताए जाने पर यदि क्षोभ होता हो तो योग में बाधक है, इसलिए यह विचारना चाहिए कि क्षोभ करना हानिकारक है और क्षोभ नहीं करूँगा तो मुझे लाभ होगा । तब तो वह क्षोभ करने से बच सकता है ।

८२. योगाभ्यासी का एक लक्षण यह है कि वह सभी परिस्थितियों में आदर्श का पालन करते हुए आगे बढ़ता जाता है ।

८३. आदर्श तो ऐसा होना चाहिए कि शत्रु भी, जो बिल्कुल विपरीत विचारधारा वाला है वह भी विश्वास करे कि यह व्यक्ति वास्तव में सच्चा है, सदा आदर्शों पर अडिग रहता है ।

८४. योगाभ्यासी यदि मानसिक तनाव रखता है तो समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उसके प्रति समाज की श्रद्धा भी नहीं रहती । वैसे मानसिक तनाव न तो व्यक्तिगत रूप में अच्छा है न ही ईश्वर की दृष्टि से । इस मानसिक तनाव का मुख्य कारण यह रहता है कि व्यक्ति सोचता है कि मैं बड़ा हूँ, मैं अधिक कार्य करता हूँ, सामने वाला नहीं करता है ।

८५. सामाजिक क्षेत्र में ऐसी कोई भी त्रुटि, व्यवहार न हो कि जिससे समाज की दृष्टि से गुरु-आचार्य के सम्मान में कमी आए । इसलिए प्रथम तो ईश्वर, फिर गुरु-आचार्य के अनुसाशन में रहना आवश्यक है ।

८६. मेरे लिये महर्षि दयानन्द जी के ग्रन्थों की एक-एक बात पत्थर की लकीर थी । यह शब्द प्रमाण है, इसके विरुद्ध कुछ नहीं करना । जब-जब कोई सन्दिग्ध विषय उपस्थित होता है तो शब्द-प्रमाण सहायता करता है । इसलिए शब्द-प्रमाण पर श्रद्धा होनी चाहिए ।

८७. शंका – ऋषि दयानन्द जी वेद, ईश्वर को स्वतः प्रमाण मानते हैं और उनके विरुद्ध में चाहे किसी की बात हो, उसे अप्रमाण मानते हैं, इसमें उनकी स्वयं की बातें भी आ जाती हैं ।

समाधान – स्वामी जी की भी वेद-विरुद्ध बातें प्रमाण-कोटि में नहीं आएगी, वेदानुकूल तो मान्य ही रहेंगी ।

८८. ऋषियों ने कहा श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार इन चार प्रकार से विद्या आती है । केवल श्रवणमात्र से नहीं आती, यह कथन वास्तविक है केवल कथन मात्र नहीं है । जब तक आचरण न किया जाए तब तक विद्या सफल नहीं मानी जाती है ।

● जो व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा से वेद, ईश्वर, ऋषियों के वाक्यों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन कर फिर साक्षात् करने में लगा रहता है उसे अन्य कुछ सोचने-विचारने का समय ही नहीं मिलता । क्योंकि जिस लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा को लेकर व्यक्ति चलता है, उसी के अनुकूल साधन एकत्रित करने पड़ते हैं और बाधकों को छोड़ने पड़ते हैं, अन्यथा दुर्गति होती है।

८९. एक ब्रह्मचारी था आरुणि । एक बार खूब वर्षा हुई, खेत की बाड़ कट गई, पानी बाहर जाने लगा तब वही ब्र. = शिष्य स्वयं शरीर को मिट्टी की तरह बाड़ बनकर खेत में लेट गया । जब गुरु जी ढूँढ़ने लगे तो वह शिष्य खेत में लेटा मिला । ऐसी होती है श्रद्धा-भक्ति ।

★ ★ ★

सिद्धान्त

१. सैद्धान्तिक विषयों का निश्चयात्मक और वास्तविक ज्ञान हो ।

२. अपना आचरण, व्यवहार शास्त्रानुकूल एवं ईश्वर के अनुकूल हो।

३. पठन-पाठन की विधि, शैली का ठीक-ठीक ज्ञान होना ।

४. ईश्वर की उपासना की पद्धति, विधि का सूक्ष्मता से ज्ञान होना।

५. सेवा आदि कार्यों को निष्कामता से करने का ज्ञान होना ।

६. **प्रश्न –** क्या कोई ऐसा भी पदार्थ है जो कभी उत्पन्न नहीं होता, परन्तु नष्ट हो जाता है ?

उत्तर – हाँ ! घड़े का प्राग् अभाव, जो अनादि होता है अर्थात् उत्पन्न नहीं होता है, घड़े के उत्पन्न होने के पूर्वतः विद्यमान होता है, परन्तु घड़े के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है ।

७. **प्रश्न** – क्या कोई ऐसा भी पदार्थ है जो उत्पन्न तो होता है परन्तु नष्ट नहीं होता है ?

उत्तर – हाँ ! घड़े का प्रध्वंस अभाव, जो घड़े के नष्ट होने पर उत्पन्न होता है कभी नष्ट नहीं होता है ।

८. जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसका विनाश भी होता है और उत्पन्न पदार्थों का अन्तिम विनाश केवल ईश्वर ही करता है ।

९. जिस पदार्थ की उत्पत्ति के तीन कारण – उपादान, निमित्त और साधारण कारण नहीं होते हैं वह वस्तु काल की दृष्टि से अनादि होती है जैसे ईश्वर, जीव, प्रकृति ।

१०. जिस वस्तु का ऐसा कोई किनारा नहीं मिलता जिससे कहा जाये कि यहाँ से इसका आरम्भ होता है, वह वस्तु देश की दृष्टि से अनादि होती है । जैसे ईश्वर । ईश्वर का एसा कोई किनारा नहीं मिलता जिससे कहा जाये कि यहाँ से ईश्वर का आरम्भ होता है, इसलिए वह देश की दृष्टि से अनादि है । जीव और प्रकृति का तो ऐसा किनारा मिलता है अतः ये दोनों देश की दृष्टि से अनादि नहीं हैं ।

११. जिस वस्तु का ऐसा कोई किनारा नहीं मिलता जिससे कहा जाये कि यहाँ से इसका अन्त होता है, वह वस्तु देश की दृष्टि से अनन्त होती है । जैसे ईश्वर । ईश्वर का ऐसा कोई किनारा नहीं मिलता जिससे कहा जाये कि यहाँ से ईश्वर का अन्त होता है, इसलिए वह देश की दृष्टि से अनन्त है । जीव और प्रकृति का तो ऐसा किनारा मिलता है अतः ये दोनों देश की दृष्टि से अनन्त नहीं हैं ।

१२. **प्रश्न** – यदि कोई ऐसा कहे कि ईश्वर सारी प्रकृति में व्यापक है और उससे बड़ा भी है, परन्तु उसका अन्त है तो उसका क्या समाधान होगा ?

उत्तर – केवल कथनमात्र से कोई बात सिद्ध नहीं मानी जाती है उसमें प्रमाण भी देना पड़ता है, अन्यथा कोई भी कुछ भी कह देगा । ईश्वर के अन्त कथन में कोई प्रमाण नहीं है ।

१३. शरीर की रचना, व्यवस्था, कार्य आदि को देखकर यह निश्चय होता है कि इसको करने वाला कोई बुद्धिमान् कर्त्ता अवश्य ही है । फिर ये लोक-लोकान्तर, विभिन्न योनियाँ, सृष्टि की व्यवस्था आदि कार्य बिना किसी सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी के नहीं हो सकते। इससे नास्तिक मत का खण्डन होता है और अपने भी जो विपरीत विचार उठते हैं, उनका निदान होता है । जब व्यक्ति वेद, ईश्वर, सृष्टिक्रम, ऋषि आदि के विरुद्ध कोई विचार उठा ले तो उसका इसी प्रकार से खण्डन कर समाधान करना चाहिए।

१४. कोई कहे कि ईश्वर के किसी ओर-छोर का पता नहीं चलता कि कहाँ से प्रारम्भ होता है और कहाँ पर समाप्त होता है, इस प्रकार जिसको हम पूरा नहीं जानते फिर भी उसकी सत्ता कैसे मान लें ? तो उसका उत्तर इस प्रकार से देना चाहिए कि – जैसे शरीर की रचना, जीवों की संख्या, लोक-लोकान्तरों की संख्या आदि को पूरी तरह नहीं जानते हैं, तब भी तो हम उनकी सत्ता मानते हैं ! इसी प्रकार से ईश्वर की सत्ता को मानना चाहिये । इससे व्यक्ति की नास्तिकता दूर होती है ।

१५. जैसे समुद्र में रेत का टिल्ला रख दिया जाए तो समुद्र (पानी) टिल्ले के अन्दर व्यापक होगा और रेत का टिल्ला व्याप्य होगा, ऐसा ईश्वर-जीव और सृष्टि में ईश्वर के साथ व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है ।

१६. जीव व्याप्य है और जीव में ईश्वर व्यापक है । जहाँ जीव है वहाँ ईश्वर है और जहाँ जीव नहीं है वहाँ भी ईश्वर है । ऐसे ही जहाँ तक यह सृष्टि है वहाँ तक ईश्वर है और जहाँ सृष्टि नहीं है वहाँ भी ईश्वर है । अर्थात् जहाँ मूल प्रकृति है वहाँ भी ईश्वर है और जहाँ मूल प्रकृति नहीं है वहाँ भी ईश्वर है । ईश्वर के एक पाद में सारी सृष्टि है और तीन

पाद आनन्द में भरे हैं। यह सिद्धान्त बहुत गम्भीर है । केवल शाब्दिक रूप में नहीं, शत-प्रतिशत ऐसा निर्णय होना चाहिए ।

१७. जीवों के जो अच्छे-बुरे कर्मों का पूर्ण न्यायानुसार फल देना होता है वह भी केवल ईश्वर ही दे सकता है, क्योंकि कोई भी जीव अपने सामर्थ्य से अपने सारे कर्मों को नहीं जान सकता, न ही अपने सामर्थ्य से पूर्ण न्याय ही कर सकता है ।

१८. इस शरीर को न तो कोई जीव बना सकता, न ही प्रकृति के परमाणु बना सकते हैं, केवल ईश्वर ही बना सकता है, इससे यह सिद्धान्त आया कि –

१. प्राणि-निर्मित से भिन्न जो भी उत्पन्न पदार्थ हैं उन सब का बनाने वाला केवल ईश्वर ही है ।

२. इन सभी उत्पन्न पदार्थों का मुख्य स्वामी ईश्वर है । हमें तो ईश्वर ने ये पदार्थ प्रयोग करने के लिए दिये हैं । हम इनके गौण स्वामी हैं, इसलिए हमें इन पदार्थों का प्रयोग ईश्वर की आज्ञानुसार ही करना चाहिए।

१९. पंक्तियों के अर्थविशेष अभिप्राय, भाषा-विज्ञान आदि ये सब वेदादि शास्त्रों व ईश्वर की उपासना से प्राप्त होते हैं ।

२०. जब तक बार-बार निदिध्यासन द्वारा किसी विषय को पक्का नहीं कर लिया जाता, तब तक उस विषय में संशय होने की संभावना बनी रहती है । इसलिए निदिध्यासन में पर्याप्त समय लगाना चाहिए ।

२१. जब तक व्यक्ति परीक्षा पूर्वक निदिध्यासनादि से ईश्वर को न्यायकारी सिद्ध नहीं कर लेता तब तक न तो पाप को छोड़ पाता है और न पुण्य को पकड़ पाता है । जब ईश्वर को न्यायकारी सिद्ध कर लेता है तब उसकी दोनों प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं ।

२२. ईश्वर के न्यायकारी सिद्ध हो जाने पर भी व्यक्ति रजोगुण, तमोगुण और इन्द्रियों के दोषयुक्त होने जाने के कारण अपने द्वारा किए निर्णय से उलटा देखता है, तब भी उसे ईश्वर के न्याय पर संशय होता है । इस स्थिति में व्यक्ति अपने उलटे विचारो से युद्ध करता है । वह कहता है

कि मेरी बात तो पांच कसौटियों से परीक्षा करने पर असत्य सिद्ध हो रही है इसलिए इसे छोड़ देता हूँ। इस प्रकार व्यक्ति पूर्ण पुरुषार्थ, संघर्ष से अपनी मिथ्या बात को छोड़ देता है।

जब व्यक्ति इन बातों को व्यवहार में लाता है तो विशेष सुख शान्ति की अनुभूति होती है अन्यथा तो व्यक्ति यदि ईश्वरोपासना नहीं करता वह थोड़ा सा कार्य करता हुआ अपने को बड़ा मानने लगता है। वह सेवा करता हुआ भी दुःखी रहता है।

२३. ईश्वर जीव, मूल प्रकृति और सृष्टि के पदार्थों के अन्दर-बाहर विद्यमान है और जहाँ प्रकृति-विकृति और जीव नहीं हैं वहाँ भी विद्यमान है, यह सिद्धान्त हमेशा मन-मस्तिष्क में दृढ़ होना चाहिए अन्यथा व्यक्ति योग-मार्ग पर नहीं चल सकता।

२४. प्रश्न – ईश्वर, जीव प्रकृति तीनों एक स्थान पर कैसे रह जाते हैं, एक-दूसरे को रोकते क्यों नहीं हैं ?

उत्तर : जिसमें स्पर्श गुण होता है वह वस्तु स्थान घेरती है, जिसमें स्पर्श गुण नहीं होता है वह वस्तु स्थान नहीं घेरती है। ईश्वर और जीव में स्पर्श गुण नहीं है अतः ये दोनों स्थान नहीं घेरते हैं। प्रकृति के परमाणु में स्पर्श गुण है अतः प्रकृति स्थान घेरती है। इससे प्रकृति के परमाणु परस्पर को रोक लेंगे, एक स्थान में नहीं रह सकते किन्तु ईश्वर, जीव के साथ एक स्थान पर रह सकता है।

२५. प्रश्न – ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों साथ-साथ रहते हुए भी क्यों नहीं घुलते-मिलतें हैं ? वस्तुतः घुलना-मिलना क्या है ?

उत्तर – जब कम से कम कोई दो वस्तुएँ मिलकर उन दोनों से भिन्न कोई तीसरी वस्तु बन जाए तो उसे घुलना-मिलना कहते हैं, जैसे लस्सी बनाने पर दूध और पानी एक हो जाते हैं अर्थात् घुलमिल जाते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति में इस प्रकार की स्थिति नहीं बनती है अतः उनमें घुलना-मिलना नहीं होता है, तथा घुलना मिलना जड़ द्रव्यों में होता है, चेतनों में नहीं।

२६. प्रश्न – व्यक्ति सिद्धान्तों को, उनके लाभों को जानता हुआ उनको क्यों भुला देता है ?

उत्तर – अपने पुरुषार्थ की कमी के कारण, ईश्वर-प्रणिधान की कमी के कारण तथा बाह्यगुणों से प्रभावित होकर सिद्धान्तों को भुला देता है। व्यक्ति जब ईश्वरोपासना को छोड़ देता है तब अविद्या से घिर जाता है तथा कुसंस्कारों एवं गुणों से प्रभावित होकर विद्या को स्थिर नहीं रख पाता है और जानता हुआ भी बुरे कार्य कर लेता है । इसलिए व्यक्ति को पूरी शक्ति ईश्वरोपासना की सिद्धि और ईश्वर-प्रणिधान की स्थिरता में ही लगा देनी चाहिए । इसके लिए दिन-रात एक कर देना चाहिए ।

२७. आचार्य शिष्य को अपने गर्भ में तीन दिन, तीन रात रखता है इसका अर्थ है – तीन प्रकार की शिक्षा देना । जैसे गर्भस्थ शिशु को माता हर प्रकार से सुरक्षित रखती है वैसे आचार्य भी विद्यार्थी को सुरक्षित रखे तो यह गर्भ में धारण करने के समान है ।

२८. मानसिक रूप में अत्यन्त पुरुषार्थ करके अकाट्य सिद्धान्त निश्चित कर लेने चाहिएँ ताकि आपत्ति काल में वे हमारी रक्षा कर सकें ।

२९. ऐसे प्रमाण, सिद्धान्त निर्वाचित करने पड़ेंगे जिसका स्वयं भी खण्डन न कर सकें । वेद और ऋषि की बात सच्ची है जो उनके विरुद्ध मेरी बात झूठी है क्योंकि मैं तो अनेक बार ऐसा निर्णय कर लेता हूँ जो अपने लिये भी अहितकर होता है तो मेरी बात प्रामाणिक कैसे हो सकती है ?

३०. वर्तमान में जो वस्तु सिद्ध है उससे उस वस्तु का भूत और भविष्य भी सिद्ध होता है । जैसे जीवात्मा आज शरीर से सम्बद्ध है, इससे सिद्ध है कि पहले भी था, आगे भी होगा । ऐसे ही जन्म-मृत्यु आदि हैं । परन्तु इससे पूर्व ईश्वर और जीव के नित्यत्व और प्रकृति का नित्यत्व सिद्ध करना आवश्यक है, फिर ये बातें सिद्ध होंगी ।

३१. ऐसा भी नहीं मानना चाहिए कि जो बात एक बार प्रमाणों से सिद्ध हो गई आगे भी वह उसी प्रकार सिद्ध रहेगी या आचरण में स्वतः

आ जाएगी, अपितु इसके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ, अभ्यास की आवश्यक्ता होती है ।

३२. व्यक्ति संघर्ष करते हुए हजारों-लाखों बार गिरता-उठता है । कई बार ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि वह सोचने लगता है क्यों मैं इस झगड़े में फंसा हूँ, सांसारिक लोग तो खूब आनन्द ले रहे हैं, सुखी हैं । परन्तु यदि उसकी वेदों, ऋषियों में श्रद्धा हो तो वही देखता है कि ऋषियों ने तो कहा है कि **कुत्रापि कोऽपि सुखी न, दुःखबहुलः संसारः हेयः** तब वह अपनी गलत मान्यता को छोड़कर प्रमाणों से सिद्ध उचित मान्यता को ग्रहण करता है ।

३३. जीवात्मा अनेक बार गलत निर्णय कर लेता है, अपना अहित भी कर लेता है, परन्तु ईश्वर कभी गलत निर्णय नहीं करता । जीवात्मा को जो कर्मानुसार दुःख-सुखरूपी फल भोगने हेतु अनेक योनियों में जाना पड़ता है, वह जीवन की व्यवस्था के लिए है । इस व्यवस्था के बिना जीना कठिन हो जाएगा, इसलिए यही मानना उचित है कि ईश्वर जीव का सदा हित ही चाहता है, अपने लिए कुछ नहीं करता ।

३४. बाहर दिखने मात्र से व्यक्ति एषणा-रहित हो ऐसा आवश्यक नहीं, किन्तु मानसिक स्तर पर एषणाओं से घिरा हो सकता है ।

३५. जब तक लौकिक एषणाएँ नहीं हटेंगी, तब तक ईश्वर एषणा नहीं हो सकती ।

इन सबके लिए एक ही उपाय है कि व्यक्ति अत्यन्त पुरुषार्थ करके ईश्वर-प्रणिधान, ईश्वरोपासना को सिद्ध करे, क्यों कि इसी एक आलम्बन से व्यक्ति दुःखों, क्लेशों से बच सकता है ।

३६. यह शरीर जिन परमाणुओं से बना है, नष्ट होने पर पुनः उन्हीं परमाणुओं से वही शरीर नहीं बन सकता । इस शरीर के निर्माण में बुद्धि और बल का कार्य है जो बिना ईश्वर के अन्य किसी में नहीं हैं । जीवात्मा बिना इस शरीर के कुछ कर नहीं सकता । इस प्रकार विचार चिन्तन करने पर व्यक्ति का स्वस्वामि-सम्बन्ध, अभिमान टूट जाता है ।

३७. न्यायदर्शन के १६ पदार्थों में से पंचावयव एक ऐसा पदार्थ है जिससे व्यक्ति किसी बात को सिद्ध कर लेता है तो वह सीधी मस्तिष्क में बैठ जाती है, उसका कोई खण्डन नहीं कर पाता और आगे का मार्ग खुल जता है, जैसे कि शरीर को नशावान् सिद्ध कर लिया तो चार में से एक अविद्या नष्ट हो जाएगी, इससे विवेक उत्पन्न होगा, फिर अन्य अविद्या भी नष्ट हो जाएँगी, फिर वैराग्य, फिर उच्च अभ्यास उत्पन्न होगा, फिर समाधि, उससे ईश्वर साक्षात्कार होगा ।

३८. न्यायदर्शन में पूर्वपक्ष - आप कहते हो कि वर्त्तमान में प्रत्यक्ष होता है, जब कि वर्त्तमान तो होता ही नहीं है, केवल भूत-भविष्य होते हैं । जैसे पेड़ से आम गिरा । आधे रास्ते तक जितना आया उतना भूत, आगे जितना जायेगा उतना भविष्य होगा, तो वर्त्तमान कहाँ रहा ?

उत्तर : यदि वर्त्तमान नहीं मानोगे तो भूत, भविष्य भी नहीं सिद्ध होंगे, क्योंकि वर्त्तमान पर ही भूत, भविष्य आधारित हैं । और यदि वर्त्तमान है तो भूत भविष्य भी अवश्य होंगे क्योंकि काल का निर्धारण क्रिया के आधार पर होता है । जितनी-जितनी क्रिया किसी वस्तु में हो गई वह भूत है, जो हो रही है वह वर्त्तमान है, जितनी क्रिया होने वाली है वह भविष्य है ।

३९. स्थिति = ठहरना भी एक क्रिया है । आज वर्त्तमान में यह शरीर मिला है । ऐसे ही भूत में मिला था, आगे भी मिलेगा । आज जीवात्मा है वह भूत में था और भविष्य में भी होगा । इससे उसका अनादित्व सिद्ध होता है ।

४०. न्यायदर्शन में यह बात उठाई कि अग्नि गर्म क्यों होती है ? पानी शीतल क्यों है ? तो उसका समाधान किया गया कि उनका स्वभाव ही ऐसा है और वस्तु अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती है । इसलिए पदार्थों के स्वाभाविक गुण में क्यों का प्रश्न निराधार है । यदि छोड़ देवे वस्तु ही नहीं रहेगी, इसलिए हमको चाहिए कि उस वस्तु को वैसा ही

जानें, मानें और उसके अनुकूल व्यवहार करें, उसके विपरीत न जानें, न मानें और न व्यवहार करें, तब लाभ होगा अन्यथा हानि होगी ।

४१. किसी स्वाभाविक क्रिया से जब तक कोई हानि न हो तब तक उसके करने में कोई दोष नहीं आता, जैसे आँख की पलक का झपकाना। परन्तु बार-बार झपकाने से यदि आँख में दर्द होने लगे तो वैसा करना ईश्वर की दृष्टि में दोषयुक्त होगा । क्योंकि उससे ईश्वर के दिए साधनों की हानि हुई है और वह समय जो किसी उत्तम कार्य में लगाना था वह भी व्यर्थ गया । जैसे हमने यह हाथ ऐसे घुमा दिया जिससे हाथ दुखने लगा तो यह भी दोष माना जाएगा। इस प्रकार जब व्यक्ति सोचता-विचारता है तो वह एक क्षण के लिए भी कोई व्यर्थ कार्य नहीं करता अथवा करना चाहता। वह सदा उत्तम कार्यों में ही लगा रहता है ।

४२. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। यहाँ सब सत्य विद्या का अर्थ सब यथार्थ-ज्ञान, और उस यथार्थ ज्ञान से जो द्रव्य, गुण, कर्म जाने जाएँ वे पदार्थ हैं । ईश्वर की सारी विद्या केवल सत्य ही है । जीव की ऐसी नहीं है क्योंकि उसको तो कभी सीधा दिखता है कभी उलटा दिखता है। इसलिए जीव की विद्याएँ सच्ची भी हैं, झूठी भी हैं। कभी जिसको सच्चा मानकर चलता है कालान्तर में वही झूठा सिद्ध हो जाता है। कभी जिसको झूठा मानकर चलता है कालान्तर में वही सत्य सिद्ध हो जाता है । इसलिए जो-जो सच्चा ज्ञान है वह-वह ईश्वर का है, ईश्वर ही उसका देने वाला है और सब सत्य विद्या तथा उस विद्या से जो जाने गए पदार्थ हैं उनका आदि मूल ईश्वर ही है ।

४३. जिसके आश्रित गुण अथवा क्रिया अथवा गुण और क्रिया दोनों रहते हों, वह पदार्थ = वस्तु कहलाता है । जो बुद्धिमान् होता है वही पदार्थ के गुणों को जानकर उनसे लाभ ले लेता है । जैसे ईश्वर, जीव, प्रकृति, इन तीनों को यथार्थ जानकर उनसे यथायोग्य व्यवहार करके अधिक

से अधिक लाभान्वित हो जाता है। परन्तु इन तीनों का यथार्थ निश्चय करना अत्यन्त पुरुषार्थ-साध्य है।

४४. यह मेरी वस्तु है इससे मैं बड़ा हो जाऊँगा, यह भावना प्रायः सभी में मिलती है। लाखों में भी कोई ढूंढने से एक-आध मिल सकता है जो इस भावना से रहित हो। अपने में देखो कि ऐसी प्रवृत्ति है या नहीं ? औरों को छोड़ो, उन पर हमारा अधिकार नहीं है वे स्वतन्त्र हैं। इस प्रवृत्ति के दूर किए बिना ईश्वर-प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि ये दोनों ही व्यवहार असत्य हैं। क्योंकि न कोई वस्तु किसी की है और न ही कोई इससे बड़ा हो सकता है। इस असत्य व्यवहार से ईश्वर की ओर से मिलने वाला ज्ञान, आनन्द, धर्म की शिक्षा, बल, उत्साह आदि नहीं मिलते हैं। इसलिए इस प्रवृत्ति को दूर करना ही पड़ेगा।

४५. जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नष्ट भी होती है और जो वस्तु नष्ट होती है वह उत्पन्न भी होती है, जैसे यह शरीर। वैसी ही यह मुक्ति भी है। जब इसका आरम्भ हुआ है तब समाप्ति तो होगी ही। यदि मुक्ति समाप्त हो जायेगी इसलिए नहीं प्राप्त करनी चाहिये तब तो जीवन भी समाप्त होगा तो इसे क्यों रखना या पाना चाहते हैं ? वस्तुतः यहाँ इस प्रकार से सोचना चाहिए कि जब तक मुक्ति का काल है तब तक तो जन्म-मरण के दुःखों से छूटे रहेंगे। जब मुक्ति की अवधि पूरी हो जाएगी पुनः जन्म लेंगे और पुनः पुरुषार्थ करके पुनः मुक्ति में चले जायेंगे। वस्तुतः मुक्ति न चाहने का बहुत बड़ा कारण यह है कि व्यक्ति के मन में प्रायः यह बात नहीं बैठती है कि मैं जीवात्मा नित्य हूँ, मरने के पीछे भी विद्यमान रहूँगा और अगली योनि में जाऊँगा। तथा इस सिद्धान्त को निर्णीत तथा चरितार्थ करने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ अपेक्षित है। बार-बार करने के पश्चात् भी निर्णय बदल जाता है। इसके लिए ईश्वर, वेद, ऋषि, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आगे अपनी मान्यता को ठुकराना पड़ता है।

४६. किसी दुःख अथवा बुराई को छोड़ने के लिए या तो उसका स्वयं प्रत्यक्ष हो या फिर शब्द-प्रमाण पर विश्वास हो तब तो व्यक्ति रुक

सकता है, अन्यथा तो ऐसे ही चलता जाएगा। जैसे कोई व्यक्ति अधिक रूपवान् है तो उसे देखकर छूने, भोगने की चेष्टा मन में होती है, इस बुराई को वही हटा पायेगा जो पहले भोगकर उससे दुःख उठा चुका हो, या दूसरा शब्द-प्रमाण पर विश्वास हो कि यह महा-पाप है। अन्यथा तो भोगों की दलदल में फंसा रहेगा।

४७. शंका – ईश्वर सृष्टि का प्रलय क्यों करता है, जीव बेकार पड़े रहते हैं, न तो सृष्टि का सुख भोग सकते हैं, न ही ईश्वर का सुख भोग सकते हैं, इसलिए अच्छा यही होता कि सृष्टि को यों बनी रहने देता।

प्रथम समाधान – शब्दप्रमाण के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ है इसलिए वह कोई गलती नहीं कर सकता। सृष्टि का प्रलय करना कोई गलती तो है नहीं।

दूसरा समाधान – सृष्टि का इतना ही सामर्थ्य है कि इतने सीमित काल तक चल सकती है, सदा-सर्वदा चलती रहे यह सम्भव नहीं, अतः पुराने को तोड़कर नया बनाने में कोई दोष नहीं है। अथवा जैसे किसी भूमि पर बार-बार खेती करने से वह भूमि फसल देना बन्द कर देती है, कुछ विश्राम मिल जाने पर पुनः फसल देने योग्य हो जाती है, अतः उसे विश्राम की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार सृष्टि को आगे कार्य करने के लिए विश्राम की आवश्यकता रहती है और प्रलय ही उसका विश्राम है। ऐसे ही सृष्टि को विश्राम मिल जाने पर वह पुनः अपने सामर्थ्यानुसार भोग-अपवर्ग को देने योग्य हो जाती है, अतः प्रलय करना करना उचित है।

४८. किसी बात को सिद्ध करने के लिए तर्क-प्रमाण की आवश्यकता होती है परन्तु उसके साथ पूर्ण श्रद्धा-विश्वास भी होना आवश्यक है, अन्यथा केवल शाब्दिक ज्ञान मात्र ही रह जाएगा।

४९. सृष्टि के पदार्थों की रचना को देखकर उसके रचयिता ईश्वर का बोध होता है क्योंकि प्रकृति और जीव का सामर्थ्य तो कुछ भी नहीं है। जब व्यक्ति ऐसा सोचता है तो उसे ईश्वर में श्रद्धा और विवेक-वैराग्य

की प्राप्ति होती है, अन्यथा तो केवल शाब्दिक ज्ञानमात्र बढ़ाकर एषणाओं में फंसा रहता है ।

५०. किसी भी पदार्थ में केवल एक गुण नहीं होता और कोई पदार्थ गुणों से पृथक् नहीं होता ।

५१. ईश्वर चेतनमात्र वस्तु है, इस कथन में केवल ईश्वर के जड़त्व होने का निषेध है, अन्य ज्ञान, बल आदि का नहीं । जैसे पत्थर जड़ है, उसमें चेतना बिलकुल नहीं है । इस कथन से पत्थर के अन्य गुणों जैसे भार, रूप, रंग आदि का निषेध नहीं होता है, ऐसे ही ईश्वर के विषय में समझना चाहिए ।

५२. आस्तिक व्यक्ति वह है जो यह मानता है कि – ईश्वर ही इस सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता, प्रलयकर्ता है, वही जीवों को न्यायानुसार प्रत्येक कर्मों का फल देता है, वेदों का ज्ञान देता है ।

५३. इस पूरे भूगोल में यदि एक व्यक्ति के साथ भी वैरभाव बना रहा तो जीवन बेकार रहेगा ।

५४. यदि किसी लौकिक सुख और सुख-साधन में सुख ले लिया तो उसका संस्कार बन जाएगा । वह संस्कार उस सुख और सुख-साधन की प्राप्ति के लिए पुनः प्रेरित करेगा, यह परिणाम दुःख है । जो कोई उस लौकिक सुख और सुख-साधन की प्राप्ति में सहायक होता है, उसके प्रति राग उत्पन्न होता है और जो कोई बाधक होता है, उसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है । उस राग-द्वेष से धर्माधर्म के कर्माशय पैदा होंगे जो जन्म-मरण के बन्धन में बांध देंगे ।

५५. सदा मन-मस्तिष्क में यह पाठ रखना उपस्थित चाहिये –

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजुर्वेद १/५।

हे ईश्वर ! मैं सत्य व्रत को धारण करता हूँ । आपकी कृपा से ही मैं सत्य के पालन में कुछ भी समर्थ हो सकता हूँ । इसलिए आप इस प्रकार से कृपा करें ।

५६. व्यक्ति को ऋषियों, वेदों, ईश्वर और अन्य प्रमाणों की बात इसलिए अच्छी नहीं लगती कि वह स्वयं को उनसे अधिक बुद्धिमान् मानता है, उनको अपने से नीचा मानता है। दूसरा कारण है उनकी बातों को प्रत्यक्ष करके नहीं देखता इसलिए भी उनकी बातों पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है। जब तक व्यक्ति श्रवण को मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार तक नहीं पहुँचाता तब तक इनको जान-समझ नहीं सकता।

५७. अविद्या, अज्ञान की अवस्था में व्यक्ति विषयों को भोगकर जब सुख का संस्कार बना लेता है तो वही संस्कार उसे पुनः अविद्या उत्पन्न कर भोगों मे सुख दिखाते हैं, जबकि वह पहले उनमें दुःख भोग चुका है।

५८. इन्द्रिय-दोष, संस्कार-दोष और तमो-गुण से अविद्या उत्पन्न होती है। रजोगुण भी अविद्या उत्पन्न करता है परन्तु उसका परिणाम तमोगुण से कुछ अच्छा होता है।

५९. जीवात्मा का जितना सामर्थ्य है उतना ही वह ईश्वर का साक्षात् करता है और उससे अलग जितना भी क्षेत्र है उसमें वह ईश्वर को वैसा ही मानता है। अर्थात् जीवात्मा अपने में विद्यमान ईश्वर के भाग का साक्षात्कार करता है शेष जितना ईश्वर उससे बाहर है, वह उसको वैसा ही मानता है।

६०. जो जन्म लेता है वह मरता भी है, जो मरता है वह जन्म भी लेता है, यह जानकर व्यक्ति को बहुत धैर्य और सहनशक्ति मिलती है।

★ ★ ★

वैराग्य

विवेक-वैराग्य, समाधि-प्राप्त योगी के लक्षण –

१. जब किसी को वैराग्य होता है तब वह लौकिक दृष्टि से प्रायः पागल समझा जाता है, परन्तु इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं होती, वह तो अपने ध्यान-भजन में मग्न रहता है तथा इसको छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि छोड़ते ही उसे क्लेश सताते हैं। परन्तु वैराग्यवान् को लोगों पर दया आती है कि मैं भी पहले ऐसा ही था।

२. उसे ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु प्रिय नहीं लगती, ईश्वर के तुल्य वा अधिक किसी वस्तु को नहीं मानता। वह तन-मन-धन से स्वयं कष्ट उठाकर निष्काम भावना से अन्यों को सुख देता है, सेवा करता है।

३. जैसे उसमें विवेक-वैराग्य और निष्कामता की स्थिति होती है, उसको ईश्वर की प्राप्ति, समाधि की प्राप्ति अच्छी लगती है, वैसा ही अन्यों को भी बनाना चाहता है।

४. मेरे विवेक-वैराग्य की प्रारम्भिक स्थिति की प्राप्ति में मुख्य चार कारण रहे –

१. पूर्व-जन्म के संस्कार।

२. इस जन्म में ईश्वर को ही प्रिय मानना, उसकी प्राप्ति की तीव्र इच्छा, सब कुछ उसी का मानना।

३. अन्तिम सत्य की खोज के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ करना।

४. जब मुझे वैराग्य हुआ था तो उस समय यह चिन्ता नहीं रहती थी कि अभी तो भोजन मिला है सायं को मिलेगा या नहीं। मिला तो ठीक, नहीं मिला तो ठीक। घर में भी केवल जाकर बैठ जाता था, जिसने जितना दे दिया उतना ही खा लिया, न अधिक की इच्छा की, न मांगा। अपने मित्रों के पास ही सो जाता था, उन्होंने कुछ दे दिया तो वही प्रयोग कर लिया। केवल एक चादर और एक लंगोट पहनकर घूमता रहता था।

लोग पागल कहते थे। दो वर्ष तक ऐसी ही स्थिति में घर में रहा। सारा दिन ईश्वर से सम्बन्ध रहता था। ऐसा वैराग्य आप लोगों को तो किंचित् मात्र भी नहीं छू रहा है।

५. जब हंसना-हंसाना, व्यर्थ की बातें करना, विषय-भोगों में पड़े रहना आदि तथा संसार की अन्य सभी वस्तुओं से वैराग्य होता है, तब बाह्य-वृत्ति नहीं बनती है और ईश्वर नहीं छूटता है। वह स्वयं को क्लेशों से मुक्त देखता है। सांसारिक लोगों को अपने से विपरीत चलते और क्लेशों से पिसते देखता है।

६. ईश्वर को पाना ही ग्रहण करने योग्य है और अन्य सब सांसारिक बातें छोड़ने योग्य हैं।

७. किसी भी सुन्दर व्यक्ति को यदि एक बार सुख भोगने की दृष्टि से देख लिया तो वह आकर्षक-वृत्ति समाधि में जाकर बाधक बन जाएगी। ऐसे ही श्रृंगार की दृष्टि से शरीर को सजाकर रखते हैं तो वह योग में बाधक हो जाएगा, सारा ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास छिन्न-भिन्न हो जाएगा। परन्तु यदि सुरक्षा की दृष्टि से शरीर में ऐसा कुछ करते हैं तो ईश्वर से जुड़ने में साधक रहेंगे। ईश्वर से जुड़े रहने पर सभी बाधक प्रभावहीन रहेंगे।

८. जब व्यक्ति देखता है कि जिसे मैं अपना कहता हूँ जैसे यह शरीर है, यह मृत्यु के पश्चात् नहीं रहेगा अर्थात् मेरा कुछ है ही नहीं, सब कुछ ईश्वर का ही है। इतना ही नहीं इस संसार में कोई भी तो ऐसा नहीं दिखता जो सदा से चला आ रहा हो और आगे भी रहेगा। इस प्रकार देखने पर मैं और मेरे का सम्बन्ध हट जाता है, पुनः व्यक्ति को अपने सामर्थ्य का पता चलता है कि मैं तो अल्पज्ञ हूँ, मेरा ज्ञान, बल बहुत न्यून है, बिना साधनों की सहायता से तो अपना भी ज्ञान नहीं कर सकता।

९. संसार की यथार्थता को जानकर उसकी इच्छामात्र भी छोड़ देना और ईश्वर-प्राप्ति की तीव्र इच्छा होना ही मुमुक्षुत्व है।

१०. यह शरीर नाशवान् है, इसमें रोग-वियोग आदि स्थितियाँ आएँगी ही । ये ईश्वर के नियम हैं, ये हमारे कल्याण के लिए ही हैं अकल्याण के लिए नहीं । ये नियम अटल हैं । ऐसा केवल हमारे साथ ही नहीं, अपितु शरीर धारण करने वाले सभी जीवों के साथ होगा, अनादिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है ।

११. शरीर रोगों का घर है । कभी किसी रोग, दुर्घटना आदि के कारण यह बेकार बन सकता है । पुनरपि ईश्वर की सम्पत्ति मानकर सदैव इसकी रक्षा करनी चाहिए । यह नियम व्यवहार में आने पर सन्तोष होगा ।

१२. जीव कितनी ही बार मरता-जीता है, परन्तु जीवात्मा के अनादि होने इसकी कोई सीमा नहीं बन सकती है अर्थात् इतनी बार जीया-मरा, ऐसा कथन संभव नहीं है, क्योंकि अनादि तत्व में 'इतनी बार' कथन नहीं होता है । ईश्वर जीव को ऐसा ही जानता है और अनादि को अनादि जानना ही ज्ञान भी है ।

१३. वैराग्य का अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति बन जानी चाहिए कि सम्मान बुरा लगने लगे और अपमान अच्छा लगने लगे । इसके पीछे ये सिद्धान्त कार्य करते हैं –

१. सभी जीवात्मा मिलकर अपने सामर्थ्य से तिलमात्र न बना सकते, न पालन कर सकते, न ही प्रलय कर सकते हैं ।

२. तीनों कालों में सब कुछ ईश्वर का ही है, किसी का कुछ भी नहीं। इन सिद्धान्तों को मन-वचन-कर्म से अच्छे प्रकार से जान लेने पर मान-अपमान सब छूट जाता है ।

१४. तमो, रजो गुण की अवस्था में जो विकार उत्पन्न होते हैं और मानसिक स्तर पर बुरे संस्कार उठते हैं, उनको भी अभ्यास-वैराग्य के द्वारा रोका जा सकता है । परन्तु वह अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर, श्रद्धापूर्वक होना चाहिए ।

१५. आपको अपना दोष सुनते समय सुख होता है या दुःख ? यदि दुःख होता है तो आप अभी सत्य को नहीं जान रहे हैं । जब व्यक्ति

सम्मान से विष के तुल्य डरता है और अपमान की अमृत के तुल्य इच्छा करता है तो उससे जितना सुख, प्रसन्नता, आनन्द मिलता है उतना इस सिद्धान्त के विपरीत कभी नहीं मिल सकता। यह सुख एक तो सत्य को ग्रहण करने से मन में सत्य का प्रकाश होने से होता है, दूसरा ईश्वर की आज्ञा पालन करने से ईश्वर देता है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह योगी, धार्मिक, विद्वान् नहीं बन सकता है। इसमें प्रमाण –

१. **सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।**
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ मनु

भावार्थ – ब्राह्मण सम्मान से विष के तुल्य डरता और अपमान की अमृत के तुल्य इच्छा करता है। जो इसके विपरीत रहता है वह सामान्य व्यक्ति की तरह रहता है।

३. ते ह्लादपरितापफला: पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ योगदर्शन २/१४। जीवनकाल में जो भोग होता है वह यदि पुण्य से मिला तो सुख देगा, यदि पाप से मिला तो दु:ख देगा।

४. तदपि दु:खशबलमिति दु:खपक्षे निक्षिपन्ते विवेचका:। सांख्य.६/८।

भावार्थ – सुख भी दु:ख से युक्त होने से विवेकी के लिए सब कुछ दु:ख ही है।

५. कुत्रापि कोऽपि सुखी न ॥ सांख्य.६/७। किसी भी लौकिक अवस्था में सर्वथा सुखी कोई नहीं हो सकता।

यदि व्यक्ति इस आदर्श, सत्य को धारण करता है तो ईश्वर संकल्प मात्र से उसकी समाधि लगवा देता है। वह अत्यन्त योग्य, उच्च कोटि का विद्वान्, विवेकी-वैरागी व्यक्ति हो जाता है जो इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है। यदि इस सत्य को ग्रहण नहीं करता तो इन विशेषताओं से वंचित रह जाता है।

१६. जिसका मुख्य लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति होता है, उसकी प्रत्येक सांस ईश्वररूपी लक्ष्य के लिए ही प्रवृत्त होता है। जो-जो ईश्वर-प्राप्ति के साधन

हैं वह उन-उन को ग्रहण करता जाता है और बाधकों को छोड़ता जाता है ।

१७. यदि आपकी योग में तीव्र इच्छा है तो आपको योग में जो-जो बाधक कारण हैं उनको छोड़ना और जो-जो साधक कारण हैं उनको ग्रहण करना पड़ेगा । जैसे सम्मान की इच्छा करना, लौकिक आचरण, लौकिक विषयभोग आदि योग में बाधक हैं, 'अपमान की इच्छा करना' योग में साधक है अर्थात् अपमान होने पर भी प्रसन्न रहना, योग के अनुकूल आचरण करना । ऐसे ही अन्य विषयों में जानना चाहिए ।

१८. व्यक्ति के मन में सूक्ष्म या स्थूल रूप में यह भावना रहती है कि दूसरे लोग मुझे अच्छा मानें, मैं अच्छे से अच्छा कार्य करूँ जिससे मेरी प्रशंसा होती रहे, किन्तु इसका परीक्षण तब होता है, जब उस कार्य के न होने पर अति क्षोभ, दुःख होता है । इसके साथ यह देखा जाता है कि प्रशंसा के अभाव में व्यक्ति उस कार्य को ठीक ढंग से नहीं करता, टालता रहता है, यथा-तथा प्रयत्न करता है, ईश्वर की आज्ञा भंग करता है ।

१९. जब तक अपमान की इच्छा न होने लगे तब तक वैराग्य नहीं हो सकता । क्योंकि यदि सम्मान से सुख लेंगे, सम्मान की इच्छा करेंगे तो राग होगा और चार प्रकार के दुःख भोगने पड़ेंगे तथा अपमान होने से सुख नहीं लेंगे तो वैराग्य बढ़ेगा ।

२०. सत्त्वगुण की प्रधानता में ज्ञान, विवेक-वैराग्य और धर्म आदि उत्पन्न होंगे परन्तु कालान्तर में रजोगुण और तमोगुण उसे दबा देंगे, यह गुण-वृत्ति-विरोध कहलाता है, यह बहुत सूक्ष्म स्थिति है । जब व्यक्ति विशेष ध्यान-मनन-निदिध्यासन-साक्षात् आदि करके इसको प्रत्यक्ष देख लेता है तब उसमें विवेक-वैराग्य उत्पन्न होता है ।

२१. आत्मा को वश में न कर सकने के कारण व्यक्ति दुःखी रहता है। जितना समय व्यक्ति ईश्वर से जुड़ा रहेगा उतने काल तक संसार में दुःख दिखेगा । जो व्यक्ति जितना अन्तर्मुखी रहेगा उतना ही इन सूक्ष्म

विषयों को पकड़ सकेगा। बाह्यवृत्ति वाला व्यक्ति इन विषयों को पकड़ नहीं सकता और आत्मा पर नियंत्रण नहीं कर सकता है।

२२. इस योग-मार्ग पर चलने के लिए तो पूरा जीवन ही बदलना पड़ता है। अत्यन्त तप, त्याग, संघर्ष करना पड़ता है। अपने पुराने, बुरे संस्कार जो योग पथ पर बढ़ने नहीं देते उनसे निरन्तर, दिन-रात जूझना पड़ता है, तब जाकर जीवन में कोई विशेष परिवर्तन आता है। यदि आप ने भी ऐसा नहीं किया तो आध्यात्मिक मार्ग में कोई उन्नति नहीं होगी और भोग-विषयों के संस्कार दृढ़ होते रहेंगे। ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि आप पूर्ण रूपेण भोगों पर टूट पड़ेंगे। तब सब किया-कराया मिट्टी में मिल जाएगा।

२३. योगाभ्यासी को योग के विषय में जानने की तीव्र इच्छा-तड़प होनी चाहिए तथा खण्डन-मण्डन, तर्क-विवाद आदि में विशेष रुचि नहीं रखनी चाहिए।

२४. जब तक व्यक्ति स्वयं आदर्श नहीं बन जाता, तब तक वह दूसरों का निर्माण नहीं कर सकता है।

२५. जब व्यक्ति की सारी लौकिक इच्छाएँ छूटकर, केवल ईश्वर की ही इच्छा रह जाती है, तब संन्यास की योग्यता बनती है।

२६. यदि तीनों एषणाओं वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा में से एक भी एषणा दिखाई देती है तो समझना चाहिये अन्य दो भी हैं। यदि केवल ईश्वरैषणा दिखाई दे तो समझना चाहिये अन्य तीनों नहीं हैं।

इस प्रकार व्यक्ति बार-बार अभ्यास करता हुआ विपरीत संस्कारों को मारता है और जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है उनको ठीक मानता है।

२७. यह सब कुछ ईश्वर का ही है। जो लोग धन, सम्पत्ति, भूमि आदि का स्वामी स्वयं को मानते हैं, मरने के पश्चात् एक तिनका भी उनका नहीं रहता।

२८. सारा संसार विनष्ट होने वाला है क्योंकि संयोग-जन्य है । जो परमाणुओं से बना है उसका विभाग भी होगा ही, परन्तु अत्यन्त अभाव नहीं होगा, क्योंकि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता ।

२९. प्रलयावस्था में यहाँ तक स्थिति बनानी पड़ती है कि मैं नहीं हूँ अर्थात् न के बराबर हूँ, अपना अस्तित्व भी भूल सा जाना पड़ता है।

३०. इस प्रकार विचार, चिन्तन-मनन आदि करने पर आकाशवत् स्थिति आती है, जहाँ कोई भी वस्तु नहीं है कोई अस्तित्व नहीं, ऐसी सुखद अवस्था संसार के सारे पदार्थ मिलकर नहीं दे सकते ।

★ ★ ★

कर्म

१. जब तक व्यक्ति यह अभ्यास नहीं बना लेता कि मैं जो कुछ भी करुँगा वह अच्छी प्रकार सोच-विचारकर करुँगा । सत्यासत्य, हानि-लाभ का निर्णय पांच कसौटियों से परीक्षा करके ही करुँगा । इसके बिना व्यक्ति छोटी-छोटी भूलें भी करता ही रहेगा ।

२. व्यक्ति जो भी कार्य करता है वह केवल सुख-प्राप्ति हेतु करता है । सभी कार्यों से प्रमुख कार्य ईश्वर-उपासना है, अन्य गौण हैं । क्योंकि ईश्वर की ही उपासना से हमें वास्तविक सुख की प्राप्ति और समस्त दुःखों की निवृत्ति होती है ।

३. जब व्यक्ति निष्काम भावना से सेवा करता है तो आनन्दित रहता है। जब सकाम भावना से सेवा कार्य करता है तो दुःखी रहता है। क्योंकि वह जितने धन-मान आदि की इच्छा रखता है उतना मिल नहीं पाता है।

४. **प्रश्न –** निष्काम-कर्म किस लिए किए जाते हैं ?

उत्तर – निष्काम कर्म का फल ईश्वर-प्राप्ति है, अर्थात् निष्काम कर्म इसलिए किए जाते हैं इससे समस्त दुःखों की निवृत्ति और नित्यानन्द की प्राप्ति होती है ।

५. प्रश्न – सकाम-कर्म क्यों नहीं करने चाहियें ?

उत्तर – सकाम कर्म इसलिए नहीं करने चाहिए, क्योंकि इससे न तो समस्त दुःखों की निवृत्ति होती है, न ही नित्यानन्द की प्राप्ति होती है ।

६. प्रश्न – निष्काम-कर्म कब होता है ?

उत्तर – ईश्वर ही समस्त पदार्थों का रचयिता, स्वामी, सभी पर अनुशासन करने वाला है; इस बात को आचरण में सिद्ध करने पर व्यक्ति निष्काम कर्म ही करता है और सकाम कर्म छोड़ देता है । किन्तु इसके लिए ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों की सिद्धि अर्थात् उनके गुण-कर्म-स्वभाव का सन्देह-रहित ज्ञान आवश्यक है ।

७. निष्काम कर्मी बिना किसी स्वार्थ के पुरुषार्थ करता रहता है वह यह ध्यान नहीं रखता कि उसे कोई देख रहा है या नहीं । वह यह नहीं सोचता, विचारता, देखता कि अन्य कार्य नहीं कर रहे हैं, अथवा कम कर रहे हैं ? वह अपना कार्य करते हुए अन्यों का भी सहयोग करता है और अपने सभी कार्य ईश्वर-प्राप्ति के लिए करता है ।

८. प्रश्न – जीवात्मा ईश्वर की तरह स्वभाव से चेतन, पवित्र, अविनाशी और धार्मिक है, परन्तु चोरी, मिथ्याभाषण आदि कार्यों की इच्छा और प्रवृत्ति क्यों करता है ?

उत्तर – जीवात्मा स्वभाव से पवित्र, धार्मिक होता हुआ भी तमोगुण और रजोगुण के कारण अपवित्र, अधार्मिक हो जाता है जिससे बुरे कार्यों की इच्छा और प्रवृत्ति होती हैं । परन्तु वही जब ईश्वर से सम्बद्ध हो जाता है तो न तो उन बुरे-कार्यों की इच्छा करता और न ही उनमें प्रवृत्त होता है, क्योंकि उसका स्वभाव ईश्वर के समान पवित्र, धार्मिक हो जाता है।

९. जब व्यक्ति ऐसा जान लेता है कि मेरा स्वभाव तो पवित्र और धार्मिक है, कर्म करने में स्वतन्त्र हूँ किन्तु रजो-तमो गुणों (नैमित्तिक गुणों) के कारण बुरे कार्यों में प्रवृत्त हो जाता हूँ, तो प्रयत्न करने पर वह अधर्म से छूटकर धर्म में प्रवृत्त हो जाता है ।

११. योगी व्यक्ति भी तमोगुण, रजोगुण के प्रभाव से प्रभावित होता है, उसे भी उलटा ज्ञान होता है, उनसे नए-नए संस्कार बनते हैं किन्तु उन-उन संस्कारों को दग्धबीज करता जाता है, और वैसा करना ही आवश्यक है क्योंकि वे संस्कार समाधि व ईश्वर-प्राप्ति में बाधक होते हैं ।

१२. जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है । वह अपनी स्वतन्त्रता से मन में कुछ भी अच्छा-बुरा सोच सकता है, उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। ऐसे ही वाणी और शरीर से कर्म करने में स्वतन्त्रता हैं ।

१३. यह करने योग्य है या नहीं पहले इसके सत्यासत्य की परीक्षा करो, पुनः निर्णय के अनुसार करो या छोड़ दो । यह एक सामान्य नियम है किन्तु व्यक्ति इसका पालन नहीं करता है, अपितु प्रायः भंग करता है।

१४. जब व्यक्ति को पता चल गया कि यह अच्छा गुण है, अच्छा आचरण है तब स्वतन्त्र कर्त्ता होने से वह चाहे और पुरुषार्थ करे तो उसे ग्रहण कर सकता है, आचरण में ला सकता है । यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसका दोष है । मन, इन्द्रियाँ आदि जड़ हैं वे कर्त्ता के अनुसार ही चलती हैं। यदि वह इन पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं रखेगा तो अपने संस्कारों के वशीभूत होकर अनिष्ट कार्य कर लेगा ।

इन नियमों के पालन के लिए शब्द-प्रमाण पर इतना विश्वास, श्रद्धा, तप-त्याग होना चाहिए कि क्षणभर भी इनको न भूलें, क्योंकि क्षणभर की भूल होने पर भी व्यक्ति बुराई से नहीं बच सकता।

१५. कर्त्तृत्व के विषय में कुछ मान्यताएँ, जिनमें –

पहली – जैसे सेवा करते हुए अपने मन में यह भावना सदा बनाए रखना चाहिए कि मैं यह जो सेवा कर रहा हूँ, वह मैं नहीं कर रहा हूँ वह ईश्वर करवा रहा है। इस सिद्धान्त को जानते-मानते हुए कोई भी उत्तम कार्य करने में ईश्वर पर कोई दोष नहीं आता और हम भी बहुत से दोषों से बच जाते हैं। परन्तु इसका अभिप्राय है– ईश्वर ने ही हमें बल-बुद्धि-शरीर आदि समस्त साधन दिए हैं और इनका ऐसा प्रयोगकर्त्ता बनाया है

जो स्वतन्त्र रूप में कार्य तो कर सकें किन्तु फल भोगने में हमारी न्याय-व्यवस्था के अधीन रहे। अन्यथा यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाए तो जीव पर कोई दोष न आए, जो कि पापाचरण से आते हैं। अतः वास्तव में जो कुछ जीव करता है उसमें ईश्वर प्रदत्त सामर्थ्य है, ईश्वर का कर्तृत्व नहीं। सब कुछ ईश्वर का ही है इसका अर्थ है जीव केवल अपनी इच्छा-प्रयत्न आदि से तो तिलमात्र भी नहीं कर सकता।

दूसरी – सब कुछ अच्छा-बुरा ईश्वर ही करवा रहा है मैं कुछ नहीं करता। इस सिद्धान्त को जानते-मानते हुए ईश्वर पर कई दोष आते हैं और हम भी बहुत से दोषों से युक्त हो जाते हैं।

तीसरी – सब कुछ मेरा है, अन्य किसी का नहीं हैं, मैं ही सब का कर्त्ता हूँ, यह भी दोष से युक्त मान्यता है।

चौथी – यदि कोई ऐसा कहे कि ठीक है ईश्वर ने साधन दिए हैं, हमें स्वतन्त्र कर्त्ता भी बनाया, किन्तु फल भोगने में परतन्त्र बना दिया, तो उसने हमारे ऊपर कौन सा अहसान कर दिया ? यह भी दोष से युक्त मान्यता है।

१६. वैदिक धर्म में भी पहली मान्यता को आचरण में लाने वाले बहुत ही विरले मिलेंगे। जो व्यक्ति इसी मान्यता को जीवन में ढ़ाल लेता है, वह योगी बन जाता है। अन्यथा साधारण मनुष्य की तरह खाना-पीना, विषय भोगना ही उसके जीवन का लक्ष्य बना रह जाता है। आप भी इस मान्यता के ऊपर अमल कर रहे हैं या नहीं ? अपना परीक्षण कर लें।

१७. वैराग्य होने पर मैं इस पहले मान्यता के आधार पर चलने लगा था। तब मुझे पता चला कि माता-पिता आदि सब मेरा, मेरा ऐसा कहते तो हैं किन्तु मरने के पश्चात तो कोई भी नहीं रहता, पुनः कौन किसका ? कोई किसी का नहीं है। जीव और प्रकृति भी अपने सामर्थ्य से तिल का दाना भी नहीं बना सकते। इसलिए सब कुछ ईश्वर का ही है, यह

ज्ञान होने पर सारा मिथ्याभिमान, स्वस्वामि-सम्बन्ध टूट गया। परन्तु इस मान्यता को आचरण में लाना कोई साधारण बात नहीं है। कुछ भी अपना न मानना, यह तो छुरे की धार पर चलना है।

१८. प्रत्येक व्यक्ति के मन-वचन-कर्म में यह मान्यताएँ आनी चाहिए इससे वह योगी, धार्मिक, संयमी बनता है। तभी विवेक-वैराग्य, ईश्वर-समर्पण होगा। ऐसा कर लेने पर ईश्वर सब कुछ देने को तैयार है। यदि 'मैं' लगा दिया तो समाधि, विवेक-वैराग्य लाखों जन्मों तक हाथ नहीं आएगा।

प्रेरणा और आशीर्वाद – वर्तमान में सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी व्यक्ति का सत्संग मिलना अत्यन्त कठिन है। इसलिए आप इस प्रकार के महापुरुषों का संग करते रहें। उनकी आज्ञा को ही मुख्य मानें। उसके पश्चात् ऋषिकृत-ग्रन्थ, वेद और ईश्वर की आज्ञाओं को मुख्य मानकर चलें। ईश्वर-प्राप्ति करना और करवाना लक्ष्य रहे, अन्य कोई लक्ष्य न बने। गुणों को ग्रहण करते जाएँ और दोषों को छोड़ते जाएँ।

★ ★ ★

संकलयिता की कुछ विशेष प्रस्तुति

स्वामी जी ने बिना गुरु के, अशिक्षित अवस्था में छः मास में ही कैसे समाधि प्राप्त की ? –

● *स्वामी जी हर समय संसार को अनित्य, अशुचि दुखयुक्त, अनात्मा के अनुसार देखते हैं। जैसे हम भी नहीं रहेंगे, सामने वाला भी नहीं रहेगा कोई वस्तु भी नहीं रहेगी, कुछ भी नहीं रहेगा।*

● *यह संसार क्या है ? यह शरीर क्या है ? माता पिता ने बनाया या अपने आप बने आदि इन प्रश्नों का समाधान हम ढूंढते रहे, इन सबको सिद्ध करते रहे, तब ईश्वर ने अभिध्यानमात्र से समाधि लगवाई।*

● प्रारम्भ में संसार नाशवान् है और सब कुछ ईश्वर का है, यह सिद्धान्त मुख्य आधार रहेगा । इस मान्यता में सीधा ईश्वर ने गुरु बनकर समाधि लगवाई, यह बात सिद्ध होती है ।

● स्वामी जी ने बताया कि जब मैं गुरुकुल में पढ़ता था तब साथ में जो अन्य ब्रह्मचारी होते थे, उनको उनके माता-पिता के द्वारा पर्याप्त घी, दूध आदि उपलब्ध होते थे । एक ही पंक्ति में आमने-सामने बैठकर हम सूखी-रोटी खाते थे और वे घी, दूध खाते थे । उस अवस्था में भी मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी । मैं सोचता था कि देखो ! मेरे मित्र कितना अच्छा खा रहे हैं । ये स्वस्थ हो, दीर्घायु हों, बलवान् हों । कोई सहपाठी पढ़ रहा होता था और हम सारा दिन कार्य कर रहे होते थे तब भी यह भावना रहती थी कि मेरे मित्र कितने अच्छे हैं, कितनी लगन से पढ़ रहे हैं, विद्वान् बनेंगे, अन्यों का भी भला होगा । ऐसी भावना योग में साधक है, इसके विपरीत दूसरों को देखकर जलना, द्वेष करना योग में बाधक है ।

इन भावनाओं को बनाने में ईश्वर की मुख्य रूप से सहायता होती है क्योंकि जो व्यक्ति ईश्वरोपासना, ईश्वर-प्रणिधान में तल्लीन रहता है, उसमें विपरीत विचार, भावनाएँ आती ही नहीं हैं । उसके गुण कर्म-स्वभाव ईश्वर के अनुकूल हो जाते हैं, वैसे ही जैसे कि ईश्वर सभी का हित, कल्याण चाहता है, सहनशील है ।

● स्वामी जी अपने विद्यार्थी काल में गुरुकुल में सारा दिन कार्य करते और एक घण्टी पढ़ने को मिलती थी, उसमें भी अपना कार्य करना, मित्रों व अन्य कर्मचारियों को भी सहयोग देते थे । इतना शारीरिक परिश्रम करना पड़ता था, परन्तु मन में किसी के प्रति द्वेष, तनाव नहीं रखते थे । मन में सदा सभी के कल्याण की भावना रखते हुए ईश्वरोपासना नहीं छोड़ी, इसी से इतना सामर्थ्य मिला कि इतना कार्य कर पाए । फिर गुरुकुल से पढ़कर निकले तो समाज कल्याण के लिए सारा जीवन झोंक दिया ।

• स्वामी जी ने बताया कि जब दो व्यक्ति मिलकर मालिश अथवा अन्य कोई कार्य कर रहे होते हैं तो यदि उनमें से एक ठीक ढंग से मालिश नहीं करता है। उस समय जो व्यक्ति ठीक जानता है उसे ठीक न करने वाले को बताना चाहिए परन्तु यदि वह बताते समय ईश्वर से सम्बन्ध तोड़ देता है तो उसे महादु:ख भोगना पड़ेगा, वह विद्या से युक्त नहीं हो पाएगा। इस प्रकार व्यक्ति प्राय: विचार ही नहीं कर पाता। ऐसे ही अनियन्त्रित मन से व्यवहार करता है। क्या हुआ कभी कुछ स्मरण कर लिया, साक्षात् नहीं करता। वह ईश्वर के सुख से वंचित हो जाएगा, धार्मिक नहीं हो पाएगा। इतना ही नहीं उसे पुन: ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने के लिए, योगाभ्यास-उपासना काल में स्थिति बनाने कि लिए अनेक घण्टों, दिनों तक पुरुषार्थ करना पड़ेगा, फिर भी वही स्थिति आ जाएगी यह भी निश्चित नहीं है, क्योंकि सब पुरुषार्थ पर आधारित है।

• स्वामी जी ने स्वयं ऐसा व्यवहार प्रत्यक्ष करके दिखाया है। इस समय प्रेरणा देने, उत्साहित करने और हमारा ऐसा जीवन बने, इसलिए बताया है।

★ ★ ★

श्रीमती फूलवती देवी आर्या
धर्मपत्नी श्री रणधीर जी राठी

निवासी रोहतक की स्मृति में उनके सुपुत्रों –

१. कर्नल सुरेन्द्र कुमार राठी, गुडगांव,

२. डा. सरला हुड्डा, रोहतक

३. एडवोकेट राकेश कुमार राठी, दिल्ली

४. ब्रिगेडियर अरविन्द कुमार राठी, दिल्ली,

५. इन्जिनीयर राजेन्द्र कुमार राठी, नोएडा (उ.प्र.)ने इस संस्करण का प्रकाशन व्यय प्रदान किया है।